राजेन्द्र यादव की कहानियों का चौथा संकलन

जहाँ लक्ष्मी कैद है

लेखक की अन्य पुस्तकें

कहानी-संग्रह	...	रेखाएँ लहरें और परछाइयाँ
		देवताओं की मूर्तियाँ
		खेल खिलौने
उपन्यास	...	प्रेत बोलते हैं
		उखड़े हुए लोग
		कुलटा
अनुवाद	...	चैख़व के सर्वश्रेष्ठ नाटक
		प्रथम प्रेम (तुर्गनेव)
		वसन्त-प्लावन ,,
		युगनेता (लर्मन्तोव)
इन्टरव्यू	...	एण्टन चैख़व : एक इण्टरव्यू

तीन नई पुस्तकें तैयारी में

शह और मात (उपन्यास)
नया उपन्यास (आलोचना)
आवाज़ तेरी है (कविताएं)

जहाँ लक्ष्मी कैद है

राजेन्द्र यादव

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली बम्बई इलाहाबाद पटना मद्रास

प्रथम संस्करण, १९५७
द्वितीय संस्करण, १९६०

मूल्य: चार रुपये

आवरण-शिल्पी : कमल बोस

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली
मुद्रक : श्री गोपीनाथ सेठ, नवीन प्रेस, दिल्ली

ओवरहीयरिंग

—हलोऽऽ, राजेन्द्र यादव हैं न

—जी, बोल रहा हूँ । आप कौन···? अरे, तुम हो···

—हाँ, हैं तो हम ही । तुम्हारी एक नई किताब 'जहाँ लक्ष्मी क़ैद है' हमारे हाथ में है, सोचा पढ़ने से पहले कुछ पूछ ही डालें···

—देख लो, तुम्हें हमेशा यही शिकायत रहती है कि मैं कुछ लिखता नहीं । कितनी जल्दी लिखी है किताब !

—सच ?—झूठेऽऽ । नई लिखी है ? ये कब लिख डालीं ? कोई कहता था, कहानियाँ सब इधर-उधर छपी हुई है ।

—तो क्या हो गया ? कहानियाँ तो इधर-उधर छपती ही हैं । कुछ राय दो न इन पर ।

—हूँऽ, तो आप हमें पुरानी चीज़ों से बहका रहे हैं । जाओ, हम नहीं देते कुछ राय-वाय । तुम बस नया कुछ लिखोगे ही नहीं और झूठ पर झूठ बोलते जाओगे । तुम भी बस, हो गए ख़त्म ।

—हिश्ट, क्या बकती हो ? अभी तो देखना ऐसी-ऐसी चीज़ें दूँगा कि चेतना के सारे स्तर और आयाम खुले रह जायँगे ।

—बस, बस, बस । लगे न अपनी तारीफ खुद करने । तुम यही सा···हूँ से मत किया करो । कुछ लिखो न नया···

—क्या करें भाई, तुमने लाकर ऐसी जगह फँसाया है कि लिखने-सोचने की फ़ुरसत ही नहीं मिलती । ये बंगाली लेखक कैसे लिखते होंगे यहाँ···!

—हम कहते है, तुमसे कुछ नहीं होगा । अपने घर जाओ, आगरे... और कुछ अच्छी चीजें लिखो ।

—आखिर अच्छी चीज़ों की तुम्हारी परिभाषा क्या है ?

—अरे ऐसी कहानियाँ जो मन पर छाई रहें, जैसे कृष्णा सोबती की 'बादलों के घेरे' है।

—अच्छा, तुम्हें अमरकान्त की 'ज़िन्दगी और जोंक' नहीं पसन्द आई ?

—नहीं भाई, ऐसी कहानियाँ नही। हमें तो पहले जैसी कहानियाँ पसन्द हैं।

—तो सुनो, तुम्हारी इस विकृत रुचि को हालाँकि 'उखड़े हुए लोग' में पद्मा और जया शरद की साहित्यिक बहस मे काफी कण्डेम कर चुका हूँ। अब फिर बताए देता हूँ कि मुझसे वे कहानियाँ नहीं लिखी जातीं, जिनमें लोग अपने-आपको निश्चेष्ट और निरुपाय होकर मरने-घुलने को छोड़ ही नहीं देते, उसमें एक शहीदाना आनन्द भी लेते हैं, और लेखक है कि उसे अतिरिक्त घुटन देकर चित्रित कर डालता है।

—क्यों, ऐसा होना क्या बिलकुल अस्वाभाविक है ?

—देखो, मेरे पिता डॉक्टर थे और ज़िन्दगी के आठ-दस साल मैंने उन्हीं के साथ अस्पतालों में काटे हैं। हज़ारों लोगों को अलग-अलग बीमारियों से मैंने मरते जीते देखा है। कैसे-कैसे केस मैंने देखे हैं तुम सोच भी नही सकती। लेकिन मुझे अभी तक एक भी उदाहरण ऐसा याद नही है जिसमें किसी ने सचमुच दिल में मरने की कामना की हो। मौत से एक-एक पल खुरच-खुरचकर जीने की [illegible] वहीं देखने को मिलती है। उन्हें देखकर मालूम पड़ता है कि शरीर को जीर्ण-वसन कहकर सुख पाने वाली ये दार्शनिक कल्पनाएँ कितनी झूठी हैं, और ज़िन्दगी कितनी प्यारी चीज़ है। भीषणतम यातनाओं में मैंने ज़िन्दा रहने की आकांक्षा देखी है। जहाँ मुँह से मरने की इच्छाएँ प्रकट की जाती हैं वहाँ भी जल्दी-से-जल्दी इन यातनाओं से मुक्ति पाना ही प्रमुख है, मृत्यु-प्रेम नही। इसलिए इन शौकिया मरने वालों की बातें मेरे गले नही उतरतीं। 'ज़िन्दगी और जोंक' में जीवन और मृत्यु

की जो 'नैक-टु-नैक फ़ाइट' है उसने मुझे झँझोर डाला है।

—लगे न फिर लैक्चर पिलाने ! तुमने अपनी कहानियों में यही तो थीम ली होगी !

—जी हाँ, आप कोई कहानी देख लीजिए। जड़ता, मौत और जहालत की प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ और उनसे जद्दोजहद करता जीवन !

—बकवास ! तुम्हारी 'खेल-खिलौने' में यह है ? 'प्रेत बोलते हैं' में है यह ?

—देखो, इतनी ऊपरी निगाह से मत देखो। लोग सच्चा, सुखी, शान्त जीवन पाने की अभिलाषा में संघर्ष करते-करते हार जायं, यह आज हमारी मजबूरी और सीमा है। जोश में आकर इससे आगे अक्सर ही हम लोग काल्पनिक आदर्शवादी और यूटोपियन हो जाते हैं। जब उफनता और बलबलाता जीवन हारकर दम तोड़ लेता है, तो क्या सचमुच हमारे मन में यह बात ज़ोर से नहीं उठती कि 'इसको बचाने का क्या कोई रास्ता है ही नहीं ? क्या ऐसा अमूल्य जीवन बच नहीं सकता ?' और यही प्रश्न हमें सुन्दरतर जीवन-निर्माण की ओर प्रेरित करता है। उस स्थिति में मरते हुए से साधारणीकरण या तादात्म्य नहीं होता, उस समय उसके प्रति अनुरक्ति और सहानुभूति; उन मरने वाली परिस्थितियों और शक्तियों के प्रति एक उदात्त क्रोध और सात्विक घृणा जगाकर हमारी कार्य-शक्ति को उद्वेलित करती है।

—बड़ी ऊँची-ऊँची बातें रट ली है। अपने इस कथन को 'कमज़ोर लड़की की कहानी' पर तो घटाना ज़रा।

—मान गए भाई, तुम्हारी निगाह तेज़ है। सच पूछो तो 'कमज़ोर लड़की' वाली कहानी को लोगों ने प्रायः गलत समझा है। यों भी कह लो कि उसमें मैं असफल रहा हूँ। अधिकांश उसकी ऊपरी तड़क-भड़क, शब्द-जाल में ही फंसे रह गए। यों मेरी निगाह में कहानी का कथ्य कमज़ोर नहीं है, लेकिन शायद उसे मैं शक्तिशाली रूप में प्रस्तुत

नहीं कर पाया। यह ठीक है कि उसमें आज के एक बहुत बड़े नेता की जीवन-घटना को ज्यों-का-त्यों उठाकर रख दिया गया है, क्योंकि उसमें आज की लड़की के जीवन की भयंकर ट्रैजेडी व्यक्त होती है। वह खुद किस प्रकार अपने को धोखा दिये चली जा रही है। वह प्रेमिका और पत्नी दोनों की भूमिकाएँ एक ही साथ ईमानदारी से निबाहने का ढोंग करती है, जबकि वह वास्तव में न तो सच्ची प्रेयसी है और न निष्ठामयी पत्नी। वजह यह है कि आज उसके लिए दोनों जीवन के दो अलग ध्रुव हैं। ट्रैजेडी यह नहीं है कि वह दोनों के प्रति सच्ची क्यों नहीं है, बल्कि यह है कि वह दोनों में से किसी को अपने जीवन से झटककर नहीं निकाल पाती। परिणाम में दोनों अपनी तलखी में—उस पर कमज़ोर होने का आक्षेप करते हैं—और इस तलखी का भी कारण वह स्वयं ही बनती है। कोई सह लेता है, कोई सह नहीं पाता। आज की लड़की,...

—छोड़ो भी लड़की...लड़की...लड़की, तुम्हारे दिमाग पर सिर्फ़ लड़की छाई है। और कुछ लिखने को नहीं रह गया ?

—इस सादगी पर कौन न मर जाय ऐ खुदा...अच्छा तुम्हीं बताओ, आज की लड़की के जीवन का यह द्वैत, आज के नारी-पुरुष के बीच, अर्थात् स्वस्थ सामाजिक सम्बन्धों की खाई नहीं है ? पुरुष अपने-आप में घुटता-उलझता है, औरत अपने में। स्वस्थ सम्बन्धों की कल्पना कैसे हो सकती है ? यह खाली प्रेम-कहानियों वाली समस्या नहीं, एक भयंकर सामाजिक प्रश्न है कि इस सामूहिक निर्माण की बेला में कब तक वे आखिर अपने-आपसे अलग-अलग लड़ते रहेंगे ? यह रोटी की समस्या, जीवित रहने की समस्या, युद्ध और शान्ति की समस्या—ये सब अकेले-अकेले ही निपटने की चीज़ें हैं ? आदमी की जीवनी-शक्ति को सबसे अधिक तोड़ती हैं ये धर्म और धन की दीवारें, रूढ़ियाँ, संस्कार, झूठे नैतिक ढकोसले, जिनके पीछे एक मरती हुई आर्थिक व्यवस्था है। उन सबका शिकार क्या पुरुष की अपेक्षा नारी

ही नहीं है ? उसको इन सबके बीच में रहते इन्हीं से 'गुड-कण्डक्ट' का सर्टिफ़िकेट लेते हुए सबसे अधिक क़ीमत नहीं चुकानी पड़ती ? और अपनी इन कमज़ोरियों और नाज़ुक पक्षों के कारण परिस्थितियों को बदलने में पुरुष का साथ देने की अपेक्षा उसके लिए वह एक समस्या नहीं बन जाती ? प्राकृतिक और मानवीय, किसी भी दृष्टि से उसे छोड़ा नहीं जा सकता। तो फिर कब तक उसे बाधा और समस्या का रूप दिये रखें ? सत्याग्रह के युग में पुरुष ने नारी के साथ प्रकृति-विरोधी प्रयोग करके जो व्यापक और घातक फ़स्ट्रेशन पाया था उसके अभिशप्त प्रेतों की छाया क्या तुम्हें हर जगह आज हमारे समाज के कर्णधार बने नहीं दिखाई देते···

—अच्छा, बस-बस। जनाब आप टेलीफ़ोन पर बात कर रहे हैं, रामलीला के मैदान में मंच पर नहीं खड़े हैं। कहाँ से बात शुरू की और कहाँ पहुँचा दी ! कहाँ प्रेम-कहानियाँ और कहाँ ये गम्भीर, मसले ! हमें शब्दों में मत बहलाओ।

—तब ठीक है। जब तुम्हारे लिए प्रेम और समाज-निर्माण के गम्भीर प्रश्न दो विरोधी बातें हैं तब मैं कह ही क्या सकता हूँ। लेकिन याद रखो, जिस समाज में धर्म और धन के कारण पत्नी और प्रेयसी, पति और प्रेमी, ये दो व्यक्ति न रहकर तीन होने को बाध्य है, वह समाज का स्वस्थ रूप नहीं है। तुम्हें इन त्रिकोणात्मक प्रेम-कहानियों के पीछे आज का कोई भयंकर मसला नहीं दिखाई देता ? प्रेम की समस्या को सिर्फ़ मध्यवर्गीय मानसिकता का विकृत और कुंठित प्रतिबिम्ब बताकर एक तरफ़ हटा फेंकना सारे सामाजिक ढाँचे को नज़रअन्दाज़ करना है, और उसी ग़लती को दुहराना है जो संकीर्णतावादी उतावले आलोचक कर चुके हैं। वे लोग आर्थिक रूप में आने वाली तीन व्यवस्थाओं की बातें सोचते थे और हर सामन्तवादी चिह्न को उखाड़ फेंकने के नारे लगाते थे; लेकिन नैतिकता अर्थात् नारी-पुरुष के सम्बन्धों और परिवार के नये रूप-गठन के बारे में घोर सामन्तवादी ज़हनियत रखते थे। उनके लिए नारी

श्रौर सैक्स उतना ही हेय था, जितना पुराने योगियों श्रौर ब्रह्मचारियों के लिए। भाई, प्रेम कोई हवाई चीज़ तो है नहीं, मूलतः व्यक्तियों के पारिवारिक गठबन्धन की प्राकृतिक स्फुरणा है, जो समाज की सबसे स्वस्थ इकाई है। इसे मध्य-वर्ग की···

—देखो-देखो, एक बात कहते-कहते श्रपने को दूसरे श्रारोप से मत बचाश्रो। तुम्हें दुनिया मे मध्य-वर्ग के सिवा कुछ श्रौर लिखने को ही नहीं दीखता।

—श्रारोप से नहीं बचा रहा। मैं तो खुलकर कहता हूँ कि मैं निम्न-मध्य-वर्ग को जानता हूँ श्रौर प्रायः उसी के बारे मे लिखता हूँ। श्रौर यह भी कहता हूँ कि कुछ वर्गों पर ही लिखने को जो प्रगतिशीलता मानते हैं, उन्हें श्रभी इस शब्द तक का श्रर्थ समझने में समय लगेगा। प्रगतिशीलता श्रादेश नहीं एक दृष्टि है श्रौर उस दृष्टि से समाज के हर वर्ग पर लिखा जा सकता है। उत्तर प्रदेश के शहरी मध्यवर्गीय लोगों की कहानियों को मैं तेलगाना श्रौर केरल के गाँव वालों पर फ़िट करके कहानी नही लिख पाता। मेरी गैरत श्रौर ईमानदारी इसे स्वीकार नहीं करती। गाँव के बारे में लिखना श्राज फ़ैशन है, यह ठीक है। लेकिन यह तो हमेशा ही हुश्रा है कि कुछ लोगों के लिए जो जीवन श्रौर मरण के प्रश्न रहे हैं वे बहुत-सों के लिए फ़ैशन हैं। बढ़िया शानदार ड्राइंग-रूमों में श्राज लोक-कला श्रौर चित्र फ़ैशन ही तो हैं। श्राज लोक-कला है, कल देशी-विदेशी कोई श्रौर कला श्रा जायगी तो वे सब सज्जा श्रौर साज-सामान, परदे श्रौर फ़रनीचर उठकर पीछे चले जायँगे··

—श्ररे जाश्रो! ये मध्य-वर्गीय लोग ही सबसे ज्यादा फ़ैशन-परस्त होते हैं···

—तो संसार में जो जैसा है उसे जैसा-का-तैसा ही स्वीकार करने का प्रण मैंने कब किया?

—श्रच्छा छोड़ो, श्रब हमें किताब पढ़ने दो। यह दुनिया-भर की बकवास श्रब बन्द! कहानियाँ श्रच्छी लगीं तो तुम्हारी बातों पर भी

सोच देखेंगे, नहीं तो कहते तो सभी एक-से-एक अच्छी बातें हैं। तुम लोगों के पास शब्द बहुत सस्ते हो गए हैं न आजकल।

—हाँ, यह शर्त तो सबसे पहले होनी चाहिए। लेकिन कुछ बातें बताना चाहता था। कहानियाँ पढ़ने से पहले उन्हें ध्यान में रख लेतीं तो बहुत अच्छा होता···

—नहीं-नहीं, यह सब बाद में। अब और बात मत करो। पढने दो। इतनी ही शामत क्या कम है कि किताब हाथ में लेकर इतना लैक्चर निगलना पड़ा। पढ़कर बताएँगे। तभी तुम्हारी बातें सुनेंगे···

—बताना ज़रूर। वह राय अच्छी कहानियाँ लिखने में मदद देगी। देख लो, यह भी कैसी ट्रैजेडी है कि लेखक से घृणा और लेखन से प्रेम····पढ़ने की जल्दी में उसकी इतनी-सी बात भी न सुनी जाय··· कि इन कहानियों को इस रूप में लाने में भाई कमलेश्वर की मदद कितनी उल्लेखनीय रही है, और तुम तो दी'···

—अच्छा बस, हाँ···हाँ···

क्रम :

कुसुम, माधवी, सुमन और अरुण को
जिन्हें शिकायत है कि मैं उन्हें कभी कुछ नहीं देता

एक कमज़ोर लड़की की कहानी

एक कमज़ोर लड़की की कहानी

भूमिका

पाठको, इसमें मैंने सुखान्त और दुखान्त दोनों प्रकार की रुचि रखने वालों के लिए कहानी कही है। आपमें से बहुतों ने अपनी सच्ची लगन से अपनी किसी पड़ोसिन लड़की से अवश्य ही प्रेम किया होगा, और बहुत सम्भावना है—बहुत क्या निश्चय ही—उस लड़की की शादी आपके देखते-देखते दूसरे के साथ हो गई होगी। तब आप रोये होंगे, मन-ही-मन घुले होंगे और अक्सर आत्महत्या की बात सोचा करते होंगे। लेकिन फिर सभी-कुछ ठीक हो गया होगा। आप अपनी ज़िन्दगी के संघर्षों में नौकरी की तलाश में या ऑफ़िस की फ़ाइलों में खो गए होंगे, लड़की अपने पति के साथ बच्चे पैदा करने में लगी होगी। और दोनों उस बात को बचपन की बात कहकर भूल गए होंगे। बड़े होकर आप अत्यन्त रखवाली रखते होंगे कि कहीं आपका लड़का भी किसी लड़की

से बचपन का यही खेल न खेलने लगे, और आपकी भूतपूर्व प्रेमिका अपनी लड़की को हमेशा अपनी आँखों के आगे रखती होगी कि कहीं वह आप जैसे किसी पड़ौसी लड़के के चक्कर में न उलझ जाय और उसे 'जीवन-सर्वस्व' न समझने लगे, जैसा स्वयं उसने कभी आपको समझा था।

खैर मैं कहानी यहाँ से शुरू करना चाहता हूँ कि प्रेमिका की शादी को हुए बहुत थोड़ा, लगभग दो-तीन साल का, समय बीता है। प्रेमी, सुविधा के लिए उसका नाम प्रमोद मानिए, एक प्रसिद्ध नेता बनकर उसी नगर में आया हुआ है जिसमें प्रेमिका रहती है, लेकिन ठहरा वहाँ नहीं है। फिर भी व्यस्तता में से थोड़ा समय निकालकर, जैसे भी हो, उसका इरादा उससे मिल आने का अवश्य है। वह बैठा सन्ध्या की कार्यकारिणी मे पढ़ने के लिए आवश्यक रिपोर्ट तैयार कर रहा है। मन-ही-मन वह प्रतीक्षा कर रहा है कि जिस अधिवेशन में वह आया हुआ है उसके संयोजक से उसने कुछ आँकड़े माँगे थे, वे अभी तक क्यों नहीं आये। उसने उनके पास एक स्वयसेवक भेजा था और इस समय वह उसी की राह देख रहा है। सुबह के दस बजे हैं, वह पलंग पर बैठा हुआ ही लिख रहा है, अभी जो चाय पीकर चुका है वह खाली प्याला पास में रखा है। सामने का दरवाज़ा बरामदे में खुला है। बरामदे में दरवाज़े तक धूप की एक चौड़ी पट्टी आई हुई है। समय जाड़े का है। एक ऊनी शॉल उसके कन्धों पर लापरवाही से पड़ा है। हाथ में फ़ाउण्टेन-पैन खुला है और उसे पीछे से हल्के-हल्के दाँतों पर ठोककर वह कुछ सोच रहा है। बस, कहानी शुरू करने के लिए इतना काफ़ी है, शेष कहानी के दौरान में आता चलेगा।

कहानी दूसरे महायुद्ध से पहले की है।

कुआँ और गूँजती आवाज़

"हुँ, तो आपने मुझे ज़हर देने के लिए बुलाया है ? मैं आऊँगा। यह ज़हर भी तो देखें।" प्रमोद ने मन-ही-मन कहा और हाथ का पत्र मोड़कर जेब में रखने लगा। रखते-रखते फिर एक बार उड़ती निगाह डाली। उसमें चिर-परिचित अक्षरों में केवल यही लिखा था और हर अक्षर में किसी की अलकों की भीनी-भीनी गन्ध थी :

"प्रमोद भैया,

आप यहाँ आये हुए हैं, फिर भी आपने हमारे यहाँ आने की आवश्यकता नहीं समझी। यह तो आपको उचित नहीं है। क्या सन्ध्या को ठीक आठ बजे हमारे यहाँ खाने पर आयेंगे ? सच, हम लोग बहुत प्रतीक्षा करेंगे। हाँ, एक बात है, आपसे छिपाना नहीं चाहती। आज का भोजन मैं अपने ही हाथों से बनाऊँगी। वह विशेष रूप से आपके ही लिए होगा, क्योंकि उसमें पोटाशियम साइनाइड मिला होगा। मज़ाक इसमें ज़रा भी नहीं है। लेकिन वह आपको खाना ही है। विशेष क्या ? आप आठ बजे आ ही रहे हैं। आ रहे हैं न ?

आपकी,

सविता।"

साथ का पत्र संयोजकजी का था, जिसमें काग़ज़ देर से भेजने के लिए क्षमा-याचना की गई थी, क्योंकि जो सज्जन इन काग़ज़ों को रख गए थे वे अभी तक नहीं आयें थे। एक साथ दोनों पत्रों को उसने बड़ी लापरवाही से मेज़ के एक कोने में फूलदान से टिकाकर खड़ा कर दिया और स्वयं उस रिपोर्ट में उलझ गया। दो घंटे तक सब-कुछ भूल-कर वह रिपोर्ट लिखता रहा।

काम समाप्त करके जब उसने सिर ऊपर उठाया और एक थकी साँस ली तो अनजाने ही उसके होंठों से निकल गया—'तो तुम ज़हर खिलाओगी सविता ! अच्छी बात है !' और स्फूर्तियों की फुहार में हँस पड़ा। पीछे दीवार से पीठ टिकाकर सहारा लिया और गुनगुनाने लगा—

"अमृत हो जायगा विष भी पिला दो हाथ से अपने।"···अतीत की गुंजलिका धीरे-धीरे खुलने लगी, खुलती चली गई···वह बुदबुदाया··· अब कौनसा ज़हर रह गया है कि···

"सचमुच, शर्म तो आपको आ नहीं रही होगी ?"

"किस बात की ?"

"किस बात की ?" उसने चिढकर मुँह बनाते हुए दुहराया, "बड़े आये हमें अपनी जूठी कॉफ़ी पिलाने वाले ! पहले शीशे में जाकर अपना मुँह तो देखिए, जाइए, हम नहीं पीते।" वह ठनक उठी, "पता है, मैं ब्राह्मण की बेटी हूँ, अपनी हैसियत से रहा कीजिए !"

"बहुत बक-बक मत कर, खोपड़ी तोड़ दूँगा। घर में क्या घुस आने देते हैं···यहाँ आकर रौब झाड़ने लगी, तेरे पुरखों ने भी देखी होगी कॉफ़ी वहाँ ? वहाँ तो तुलसी का जुशांदा उबालते हैं।"

"नहीं जी, हमें कॉफ़ी क्यों देखने को मिलेगी ? हिन्दुस्तान के सारे कॉफ़ी के बग़ीचे तो आपके है न ! आप ही तो एक इंगलैण्ड से नये लौटकर आये है न, बड़े आये चल कर हमें कॉफ़ी पिलाने !" मुँह बिचकाकर वह बोली।

"इंगलैण्ड से नहीं आये तो तेरी तरह घर में ही बैठकर पढ़े हैं ! पता है, आप एक बैरिस्टर से बातें कर रही हैं इस समय, बाहर से ही चपरासी भगा दिया करेगा।"

"जी हाँ, बहुत बैरिस्टर देखे हैं, आते हैं तो बड़ा रौब और शान रखते है, फिर तो झाड़ू ही लगाते बनता है सड़कों पर !" वह खिल-खिलाकर हँस पड़ी।

"अच्छा बक-बक मत कर, कॉफ़ी पीती है कि नहीं, ठंडी किये डाल रही है।"

"फिर वही रट, कह दिया कि हे लन्दन-पलट बैरिस्टर प्रमोदजी ! आप इस समय लन्दन के किसी क्लब में, किसी मेम के साथ नहीं बैठे हैं कि एक-दूसरे की तन्दुरुस्ती पी जा रही है, जूठी शराब और कॉफ़ी

चल रही है। आप इस प्रसिद्ध तीर्थ-नगरी में अपने घर मे है और कुमारी सविता शर्मा, समझे शर्मा स बात कर रहे है। यह तो कहिए मैं आपके यहाँ का पानी तब भी पी लेती हूँ, हमारी जाति का कोई सुने तो निकाल बाहर करे—कायस्थों के यहाँ का पानी ? राम-राम !" उसने कानों पर हाथ रख लिये।

"तो मुझे भी ज़िद है कि आज तुझे कॉफ़ी पिलाकर ही छोड़ूँगा, बैरीस्टरी मैंने पढ़ी है, छाँट आप रही है।"

प्रमोद ने झपटकर उसकी बाँह पकड़ ली और अपना प्याला उठाकर उसके मुँह से लगाकर गुर्राया—"पी···पी···नहीं तो फैलती है···"

"भैया, यह बात ठीक नहीं है, मैं भाभी को आवाज़ देती हूँ फिर ···भाभी !" वह नाराज़गी से बोली, "कॉफ़ी-वाफ़ी हम नहीं पीते, हमें स्वाद नही आता। हुक्के का-सा पानी, अरे···मानो···।"

"स्वाद नहीं आता ? सारी दुनिया कॉफ़ी पीती है, इन्हें अनोखा ही स्वाद नहीं आता।" बाँह छोड़कर प्रमोद ने गरदन पकड़ ली, और दूसरे हाथ का प्याला खट् से उसके होंठों से लगा दिया सविता के होंठ जल गए और दो घूंट मुँह में भर गई। एकदम वह सटक गई। सारा मुँह लाल हो उठा, गले की नसें उभर आईं और आँखों में पानी भर आया। उसने दोनों हाथों से प्याला पकड़कर इस तरह साँस ली जैसे डूब जाने पर उभरकर साँस ली हो। प्रमोद ने कप हटा लिया।

"ले अब, रो भाभी से जाकर कि मेरा धर्म नष्ट कर दिया, न जाने क्या पिला दिया !" उद्दण्ड स्वर में वह बोला; फिर कॉफ़ी के प्याले को अपने होंठों की ओर बढ़ाया।

सविता का गला जल गया था और दोनों हाथों से अभी तक उसने गला पकड़ रखा था।

"तुझे तो सीधे मुँह कभी कुछ करने को कहे ही नहीं। बस, गरदन पकड़ी और काम करा लिया।" बात समाप्त करके उसने फिर प्याला अपने होंठों की तरफ़, जहाँ कुटिल मुस्कराहट नाच रही थी, बढ़ाया।

"तुम्हारी भी आज बाबूजी से शिकायत नहीं की तो मेरा नाम नहीं। लन्दन से लौटकर आये हैं इस मारे यहाँ आदर करते-करते मरे जाते है, और आप साहब हैं कि किसी को बदते ही नही अपने सामने। हमारा सारा गला जल गया, अरे, अब उसे क्यों पीते हैं, मेरे मुँह से निकल आई थी—हाय-हाय कैसे गन्दे है! छि:-छि:!" घिन से दोनों हाथ झटककर वह बोली, "भैया सच, तुम तो जब से पढ़-लिखकर आये हो, बिलकुल मलेच्छ हो गए हो, और लेके अपनी जूठी कॉफ़ी पिला दी। भैया, सच बात है कि ऐसे तुम मेरा धरम नष्ट करोगे तो मैं यहाँ झाँकूंगी भी नही, समझे!" उसने ऐसा भाव दिखाया जैसे कॉफी उसके पेट से वापस उमड़ी आ रही हो।

"झाँकने को कौन मैं तेरे हाथ-पाँव जोड़ने गया था कि हे सविता रानीजी, आपके बिना हमारा घर सूना पड़ा है, आप चलिए नहीं तो मुहूर्त निकला जा रहा है।"

"हाय! कोई सुने तो क्या कहे? जाने क्या-क्या बके जा रहे हो। भैया, हमें ये सब बातें अच्छी नहीं लगती। तुम्हे तो कुछ शरम-लिहाज़ है नहीं। जब से आये हो, जो मुँह पर आता है बक देते हो, एक तो अपनी जूठी-सच्ची चीज़ खिलाकर हमारा धरम नष्ट कर दो और ऊपर से ये सब कहनी-अनकहनी कहो।"

"बड़ी आई धरम-करम की रट लगाने वाली, धरम की बच्ची! धरम तो तेरा तभी नष्ट हो गया जब तू जान-बूझकर यहाँ आई।" फिर एक ओर मुँह फेरकर जैसे किसी अनुपस्थित व्यक्ति को सम्बोधित करके बोला, "भैया, इन ब्राह्मणों की माया ये ही जानें! बाप-भाइयों को हमारी बिरादरी वालों को भड़काकर जात से निकाल दिया, लड़का इंगलैण्ड हो आया है और बेटी है कि चौबीस घंटे बस हमारी ही छाती पर सवार रहती है, न पढ़ने देती है न लिखने।" फिर एकदम उसकी ओर मुँह करके बोला, "अच्छा, आप भागिए यहाँ से, वरना फिर मैं बुलाता हूँ पंडितजी को। ख़बरदार, फिर जो कभी यहाँ आई—बस, वहीं बैठी

अपनी खिड़की से झाँका कर, समझी ! वैसे तो 'जूठी-जूठी है' की रट लगा दी, पिलाया तो एक घूँट में आधा कप खाली कर दिया।"

"हाय, झूठ की हद हो गई है भैया, सच !" एक तो हमारे होंठ जला दिए, नहीं तो मैं एक घूंट नहीं पीती।"

"पी तो सही, अच्छा बता कैसी लगी हमारी जूठी कॉफ़ी ?" उसने ललककर पूछा।

"कड़वी ज़हर, थू-थू, जाने मांस-मच्छी क्या-क्या खाते है !" सविता ने ऐसा मुँह बनाया जैसे नीम की पत्तियाँ चबा ली हों।

"आहा, हमें तो बड़ी मीठी लग रही है, अमृत-जैसी। भई वाह, क्या कहने हैं !" बाकी कॉफ़ी को आनन्द से एक ही घूंट में पीते हुए वह बोला।

"तो लाओ, थोड़ा और थूक दूं उसमें। ज़रा और मीठी हो जायगी।" धृष्टता से वह बोली।

"थूकना क्या, तुमने तो छू दिया होंठों से बस, उसमें शहद घुल गया।" उसी तरह उसने उत्तर दिया।

"तो बस, मैं भाभी से कहे आती हूँ, आज से चीनी-बूरा घर में ज़रा भी नहीं आएगा। मैं कुल्ला करके पानी रख दूंगी, दूध-चाय सबमें वही पड़ेगा।"

दूर बरामदे में आती भाभी की झलक प्रमोद को मिल गई। वह झटककर सीधा बैठ गया, इधर-उधर पड़ी किताबें सामने खिसकाकर ठीक कर लीं। एक घूंसा सविता की पीठ में मारकर बोला, "बड़ी आप स्वर्ग की देवी चली आ रही है कि हमारे खाने में थूकेंगी ! अपना मुँह तो देख, महीने-भर से दाँत साफ़ नहीं किये हैं, तमाम बदबू आ रही है। चली आईं मटकती हुई, 'अमें पड़ा दो।' फिर ऊपर से यह कि हम आपके खाने-पीने में थूकेंगे।"

"हाय राम रे, मार डाला !" सविता दुहरी हो गई।

पाठको, मुझे लगता है कि यह कहानी बहुत हल्की और बचकानी

चल रही है, इसलिए इसे थोडा गम्भीर रंग देना जरूरी है ।

तभी भाभी ने प्रवेश किया, "क्यों मारे डाल रहे हो लालाजी, पराई लडकी को ? सारी दुनिया में घूम आए यह आदत नहीं छोडी ! अरे, अब तो कुछ ढंग सीखा होता ! अभी कुछ हो गया तो उसके बाप-भाई जान लेने आ जायँगे, वैसे ही हमें तो काले पानी की सजा है ।"

"तो यह हमारे खाने-पीने में थूकने को क्यों कह रही थी ?" नकिया-कर अपराधी की तरह वह बोला ।

"मैं कहाँ कह रही थी ··?" मेज़ के पास से हटकर सविता भाभी से सटकर खड़ी हो गई और भुनभुनाते हुए बोली, "खुद ही तो मुझे···"

"अच्छा तू नही कह रही थी कि आप तभी शुद्ध हो सकते हैं जब गोमूत्र पियें, गोबर खायें, और एक ब्राह्मण कन्या से सात दिन अपने खाने की हर चीज़ में रोज़ थुकवा लिया करें···?"

"मैंने कब कहा ?" उसने भाभी का हाथ अपनी पीठ पर ले जाकर अपने हाथ से टटोलकर वह जगह, जहाँ घूँसा पड़ा था, दिखलाते हुए कहा, "देखो, कैसी जगह उछल आई है !"

"हाय, सच्ची लालाजी, कुछ तो सोचा करो । बेचारी के गोला बन गया है । अभी हड्डी-पसली टूट जाती तो कहीं शादी-ब्याह भी नहीं होता···" भाभी ने सहानुभूति से कहा । वे गम्भीर थीं ।

"अरे भाभी, सच, तुम भी किसकी बातों में आ गईं ? यह बहुत चालाक है । इसके ज़रा भी नहीं लगी होगी, तभी तो इसने इतना हल्ला मचा रखा है । हल्ला मचाना तो इसके पूरे खानदान का काम है ही, एक तो अपना सारा समय नष्ट करके इन्हें, साहबज़ादी को पढ़ाओ, इनका काम देखो, ऊपर से यह हमारी एक-न-एक उल्टी-सीधी बातें बनाकर भिड़ाएँगी । जाओ हम नहीं पढ़ाते । ले जाओ अपनी किताबें-कापियाँ सब···" उसने सविता की किताब-कापियाँ मेज़ से नीचे फेंक दीं ।

तभी दरवाज़े पर नौकर ने आकर बताया, "बहूजी, छोटे बाबूजी

न बुलाया है।"

"अरे हाँ, लालाजी, मैं तो भूल ही गई, तुम्हारे भाई साहब ने तुम्हें बुलाया है। बाबूजी भी वहीं बैठे हैं। इस बचपने को छोड़ो, ज़रा जल्दी चलो, कुछ जरूरी काम है।" भाभी जल्दी से चली गईं।

"बच गए बच्चूजी, अभी सब दाल-आटे का भाव मालूम पड़ जाता। कह देती, अपनी जूठी कॉफी पिलाते हैं।" वह विजय से हँसकर बोली।

प्रमोद ने नहीं सुना। उसके चेहरे का सारा उल्लास और बचपना ग़ायब हो चुके थे, बोझीली छाया उसकी भौंहों पर उतर आई थी जैसे कोई भारी चिन्ता, फिक्र और परेशानियों का पहाड़ उस पर टूटने को है। वह खुद ही बडबड़ाया, 'उँह, एक बार कह दिया, दस बार कह दिया, अब पता नहीं क्यों हर बार पेशी होती है। जिन्दगी सारी तलख़ कर दी।' वह टाई की गाँठ ठीक करता-करता चिन्ता-मग्न-सा चल दिया। पर जैसे कुछ याद आ गया और दो कदम लौटकर अचानक दरवाज़े पर ही धीरे-से बोला, "कापी देख लेना।" और वह बाहर निकल गया।

नीचे पड़ी हुई किताब-कापियाँ सविता ने समेट लीं। फिर वह उसी कुरसी पर बैठ गई जिस पर अभी प्रमोद बठा था। किताब पास खोल ली और इधर-उधर सावधानी से देखकर कापी खोलकर उस पर झुक गई। कापी में जल्दी-जल्दी में लिखा था।

"सविता मेरी,

"इधर घरवालों ने बहुत-बहुत परेशान कर डाला है। फिर से बिरादरी में मिलने की बस यही तरकीब इन लोगों की समझ में आ रही है कि जल्दी-से-जल्दी मेरी शादी कर दें, ताकि उनका दल मज़बूत हो जाय। उनके साथ तब फिर एक घराना और होगा। मुझे सिर्फ एक ही झिझक है कि मेरे विलायत जाने की वजह से ही यह सब मुसीबत आई है। भाई साहब और बाबूजी पीछे पड़े हैं कि दो-दो छोटी बहनें हैं, इनका सब कैसे करोगे, बिरादरी से अलग होकर कैसे और कब तक चलेगा? लेकिन···लेकिन मैं जानता हूँ कि शादी मेरी होगी बस एक के साथ,

नही तो नहीं होगी। आजीवन यों ही रहूँगा। तुम मेरा साथ दो तो मैं यम से भी नहीं डरता! तुम मेरी प्रेरणा हो, दिग्दर्शक यंत्र हो, शक्ति हो। शक्ति को लेकर ही तो शिव शिव हैं, और उनमें साहस है कि वे कालकूट पचा सकें। मैं भी यह सारा विष हँसते-हँसते पी जाऊँगा। तुम जहाँ भी रहोगी मेरे सपनों में सुरभित रहोगी, मेरी वाणी मे मुखरित रहोगी। सविता, तुम मेरी पूर्णता हो, और अपनी पूर्णता को पाकर ही मैं शेष जगत् की शोषित जनता की अपूर्णता का निदान खोज सकूँगा, एक सधे हुए सन्तुलित जहाज़ की तरह इन लहरों और आँधियों में अपने मार्ग की ओर बढ़ सकूँगा, वरना कॉर्क की तरह यहाँ से वहाँ, अपनी ही अपूर्णता में भ्रान्त फिरने से क्या लाभ? अच्छा हो आदमी एक किनारे पर बैठा रहे। और यही निश्चय मैंने सूचित कर दिया है उन लोगों को कि शादी या तो जहाँ मैं चाहूँगा वहाँ होगी, नहीं तो समय पड़ने पर एक लम्बा चीवर मैं तैयार करा लूँगा, भिक्षापात्र हाथ में और सारी धरती पैरों पर। तुम बताओ मैं क्या करूँ? मेरा तो दिमाग़ ख़राब हो गया।

तुम्हारा ही—प्र०"

सविता पत्र पढ़ चुकी तभी लीला ने आकर कहा, "सविता जीजी, भाभी बुला रही हैं।"

"क्यों, अभी तो वे यहाँ से ही गई है?"

"हाँ, कुछ काम है। शायद बैठक में कोई आया है, नाश्ता भिजवाना है। आप ज़रा तैयारी करा दें।"

"अच्छा।" लीला चली गई तो सविता ने कागज़ फाड़कर ब्लाउज़ में रख लिया और चौके में आ गई। रसोई में भाभी प्लेटें फैलाकर नाश्ता रख रही थीं, सविता को देखते ही बोलीं, "सविता, ज़रा ये सेब काटकर इनमें लगा दो, मार हल्ला मचा दिया, चार बार भेज चुके हैं नौकर को, नाश्ता भेजो, नाश्ता भेजो। ज़रा जल्दी से ये नाश्ते की तश्तरियाँ तैयार कर ले, बिटिया मेरी।"

सविता नाश्ता लगाने लगी, भाभी ने चाय केटली में भरी और नौकर जब दो बार में उठाकर सारा नाश्ता ले गया तो एक थकी साँस लेकर धम से वे दीवार के सहारे बैठ गईं।

"आज तो सच, बहुत थक गई, सविता !" फिर बात बदलकर कहा, "और कहो, तुम्हारे यहाँ क्या हो रहा है ? बहुत दिन से मौसी को लाईं नहीं तुम।"

"कौन आ गए हैं ये, जो इनकी इतनी खातिरदारी हो रही है ?" सविता ने पहली बात पूछी।

"कुछ नहीं है सविता ! हमारा तो सारा घर परेशान है। बाबूजी, तुम्हारे भाई साहब, अम्माजी, सभी एक सिरे से पागल हैं। पता नहीं, लालाजी क्या चाहते हैं ?"

सविता मन-ही-मन चौंकी, फिर भी भोलेपन से पूछा, "क्यों ?"

"अरे क्यों क्या ? जब से इंगलैण्ड से होकर आये हैं, सारी तो बिरादरी खार खाए बैठी है। सब-कुछ हमारा, उठना-बैठना, हुक्का-पानी बन्द कर दिया है। और लालाजी हैं कि अपनी ज़िद पर अड़े हैं, कुछ समझ में नहीं आता। अब तुम्हीं सोचो, दो-दो छोटी बहनें हैं, उन्हें कहाँ देंगे ? यों ही चलते-फिरते के हाथ तो पकड़ा नहीं देंगे। उनकी इच्छा ज़रूर हो जायगी, लेकिन देख लेना सारा घर बरबाद हो जायगा। अम्मा तो शर्तिया ज़हर खा लेंगी।" उनकी आँखों में आँसू आ गए।

दोनों थोड़ी देर चुप रहीं। फिर जैसे बड़े झिझकते हुए भाभी बोलीं, "एक काम करोगी सविता ?" सविता ने प्रश्न-चिह्न-भरी आँखों से उधर देखा।

"तुम न समझा देखो ज़रा ! सच रानी, हमारा घर बन जायगा।" अनुनय से वे बोलीं।

"मेरी भी कहाँ मानते हैं वे ? दो घूँसे मारेंगे, तीन मील दूर जाकर गिरूँगी।" असमंजस में वह बोली।

"तुम्हारे पैरों पडती हूँ, तुम समझा दो। देखो और किसी के बस की बात नहीं है। अब भी तुम देख लो जाकर बैठक में, आदमी आया है। ऐसा ऐसा पीछे पड़ रहा है, लेकिन कहे जा रहे है कि मै तो सन्यासी हो जाऊँगा।"

भाभी के अनुरोध से कातर होकर, या न जाने क्यों सविता रुआँसी हो आई और घुटे स्वर मे बोली, "देखो, मैं कहूँगी तो, लेकिन देख लेना मानेंगे नही, मुझे तो बिलकुल बच्ची समझते हैं।"

भाभी ने इस बार जरा ध्यान से उसके चेहरे को देखा और एक बहुत ही महीन मुस्कराहट की रेखा उनके उदास बाएँ गाल और होंठों के बीच में झलकी और तत्क्षण ही अदृश्य हो गई—लड़की सबको बेवकूफ़ समझती है। दोनों चुप हो गईं। भाभी बैठी उसके चेहरे के उतार-चढ़ाव का तटस्थ अध्ययन करती रहीं।

उसे दिया गया काम कितना कठिन है, इसे सविता ने उस समय तक नहीं जाना जब तक वह प्रमोद के सामने न आ गई। अगर वह उसे समझा नहीं पाती तो भाभी कहेंगी, यह समझा सकती थी। लेकिन जान-बूझकर ही इसने चाहा नहीं, और अगर समझा लेती है तो? फिर अन्धकार—महान् अन्धकार की अथाह गहराइयों में वह खो जायगी···।

"आपसे कुछ जरूरी बात कहनी है।" भाभी के पास से आकर वह चुपचाप-गुमसुम उसकी मेज़ पर आकर बैठी रही थी। सामने यों ही किताब-कापियाँ खोल ली थीं, लेकिन पता नहीं क्यों बार-बार आँखों में आँसू भर आते थे। फिर भी उसने दृढ़ निश्चय कर लिया था कि यहाँ नहीं रोना। रोना घर जाकर है कि मन का सारा ग़ुबार निकल जाय, जी भरकर रोना है। जब प्रमोद आया तो वह चुपचाप कुरसी से उठकर मेज़ से सटकर खड़ी हो गई, और काँपती उँगलियों वाले हाथों से किताब-कापियाँ टटोलने लगी, जैसे उन्हें समेटना चाह रही हो। प्रमोद एक कुहनी मेज़ पर टेककर उस पर अपना सिर टेके कुछ गम्भीरता से सोच रहा था, शायद बाहर कुछ ऐसी ही बात हो गई थी ··

"कहिए, अब आप भी अपनी ज़रूरी बात कह डालिए। जितनी भी ज़रूरी बातें हैं सब आज ही मेरे सिर पर थोप देना सब लोग, कोई बचने न पाए।" उसने तलखी से कहा।

वह अपनी बात कहने के लिए साहस इकट्ठा कर रही थी, लेकिन इस बात से उसने पलकें ऊँची करके प्रमोद को देखा तो उसकी ठोड़ी और होंठ काँप रहे थे जैसे खाल के भीतर सैकड़ों सुइयाँ एक साथ उठ-गिर रही हों। वह एक क्षण चुपचाप खड़ी रही, फिर ज़रा सकुचाकर बोली, "तो मैं चलती हूँ !" वह मुड़ पड़ी।

"अरे, उस ज़रूरी बात का क्या हुआ ?" चौंककर उसने पूछा।

सविता की चाल एक क्षण को ठिठकी। बिना मुड़े ही उसने कहा, "नहीं, कुछ नहीं।"

"रुको।" प्रमोद ज़ोर से बोला और एक ही झटके में उसके पास आ गया। उसकी बाँह पकड़कर रोकते हुए कहा, "बोलो··· !"

वह कुछ नहीं बोली, दूसरे हाथ से उसकी कसी उँगलियों को बाँह से हटाकर छुड़ाने का प्रयत्न करती रही। उसने गरदन दूसरी ओर मोड़ ली।

"भैया···!" उसने कहा, और अगले शब्द जैसे प्रयत्न करने पर भी उसके गले से निकले नहीं। वह एकदम अपना सिर प्रमोद के कन्धे पर रखकर फफक पड़ी।

चिन्तित-चकित प्रमोद स्तब्ध रह गया। सिर्फ़ एक शंका उसके दिमाग में गूँजती रही—कोई आ जाय तो ! उसकी समझ में इस अप्रत्याशित विस्फोट का कारण नहीं आया। फिर भी उसने सान्त्वना के लिए उसके सिर और बालों पर हाथ फेरकर थरथराते गले से कहा, "अब बोल न···।"

"तुम मान क्यों नहीं जाते···"

प्रमोद जैसे ऊपर से नीचे तक सन्न रह गया। उसने उसके फैले बालों को पकड़कर अपने कन्धे से चिपका सिर उठाया। बड़ी कठिनाई से उसने

कहा, "तुम···तुम सविता···यी टू ब्रूटस् !" सविता का सिर वहीं आ चिपका।

दोनों थोड़ी देर चुपचाप खड़े रहे। फिर प्रमोद ने निरुद्विग्न स्वर में कहा, "अच्छा सविता, अब तुम जाओ।"

सविता नहीं गई।

"कुछ और ज़रूरी बात ?" हल्के व्यंग्य से प्रमोद ने एक क्षण रुक-कर पूछा, "तुमसे भाभी ने कहा है न ? तुम चाहती हो, घरवालों की बोली पर मैं नीलाम की तरह बिकूँ ?"

करुणा-याचना-भरे स्वर में सविता इतना ही कह सकी, "तुम मुझे ग़लत समझ रहे हो।"

"अभी तक तो ज़रूर ऐसी बात थी, अब तो ग़लत समझने का कोई कारण नहीं रह गया।" अपने उद्वेग को अधिकार में रखने की उसमें जितनी भी ताकत थी, उससे वह अपने को इस समय संयत रखे था। स्वर को बहुत स्वाभाविक बनाकर कहा, "मैं तुम्हें काफ़ी मज़बूत समझता था ····खैर···।"

सविता अपराधी की तरह चौखट में लगे किवाड़ों को रोके रखने वाले गुटके को खोल-बन्द कर रही थी।

"लो, देखो···।" उसका हाथ पकड़कर प्रमोद उसे भीतर ले आया और अपने कपड़े टाँगने की आलमारी खोलकर उसने बड़ा-सा वैस्टर उतारकर एक ओर गिरा दिया। उसके नीचे एक रुद्राक्ष की माला और खद्दर का लम्बा-चौड़ा चोग़ा झूल रहा था। पहले तो विस्मित उत्सुक सविता उसे देखती रही, नासमझ की तरह खुली आँखों से··· फिर एकदम दीवार से बाँह टिकाकर फूट-फूटकर रो पड़ी···

प्रमोद ने अधलेटे ही जैसे तन्द्रा से जागकर देखा और दुहराया, "उंह, ज़हर देगी, मैं भी तो देखूँ कैसा ज़हर देगी···कमज़ोर लड़की !" फिर उसे सहसा याद आया कि कार्यकारिणी की मीटिंग में कुछ बातें तय

हो चुकने के बाद शायद घंटे-आध घंटे बाद ही खुला अधिवेशन है। जो चीज़ें कार्यकारिणी में तय होंगी उनको ज़रा प्रभावशाली ढंग से रखकर डेलीगेटों से वोट भी तो लेने है···अब जो भी हो, वहाँ तो जाना ही है, चाहे दस मिनट का समय निकाल कर ही सही। उसने अपने अलसाए मन में ज़रा-सा साहस इकट्ठा किया और समय देखने के लिए फिर फूल-दान से टिके रखे उस लिफ़ाफ़े को उठा लिया। हल्का हरा लिफ़ाफ़ा—वह उसे अधमुंदी आँखों से देखता रहा। स्मृतियों के शहद में डूबी मुस्कान तितली की तरह उसके होंठों पर खेलती रही। फिर भीतर का काग़ज़ और वही पुराने चिर-परिचित अक्षरों को बाहर निकालने के लिए छूते हुए उसे ऐसा लगा जैसे वह सजीव है। [दो तह किया हुआ एक छोटा-सा लम्बा, लिफ़ाफ़े के ही रंग का काग़ज़ और उस पर सविता के होंठों की रह-रहकर कल्पना में आने वाली फड़फड़ाहट की याद दिलाने वाले अक्षर···सुन्दर इन्हें न कहा जा सके; लेकिन कितने अधिक मुखर हैं—हर अक्षर जैसे अभी बोल पड़ेगा और इन अक्षरों ने उससे क्या-क्या नहीं बोला है? उसने कोने पर जहाँ काग़ज़ को पकड़ रखा था वहाँ देखा, रोमन अक्षरों में लिखा, हर अक्षर एम्बॉस किया हुआ था—'लोकेश भारद्वाज, डी० एस-सी० प्रोफ़ेसर ऑफ़ फ़िज़िक्स' उसके बाद कालेज का नाम···वह धीरे-धीरे डूब गया···

दोराहा, भँवर और दिग्भ्रान्त

लोकेश भारद्वाज, डी० एस-सी०
प्रोफ़ेसर ऑफ़ फ़िज़िक्स

नेमप्लेट देखकर स्वयंसेवक साइकिल से उतर पड़ा और कोठी का फाटक खोलने को उसने हाथ बढ़ाया ही था कि भीतर से एक चाइना पपी क़िस्म का छोटा-सा, बड़े-बड़े बालों वाला, कुत्ता भोंकता लपका। दोपहर के समय खाना-वाना खाकर सविता छोटी-सी बाँस की कुरसी पर धूप की ओर पीठ किये, और दोनों पाँव कुरसी पर ऊपर समेटकर रखे

झुकी हुई ज़रा अलसाई-अलसाई-सी नेलकटर से नाखून काट चुकने के बाद उन्हें गोल घिस रही थी। पता नहीं किस पार्टी में जाने के समय लगाई गई पॉलिश अब छूटकर लाल धब्बा-सी रह गई थी। आज नई पॉलिश लगा ली जाय या इसे भी छुड़ा डाला जाय—सविता अभी घिसते-घिसते यही सोच रही थी। उसे मालूम था कि गालों से ढुलकते हुए आँसू उसके नथुनों को छूकर सूखे-सूखे होठों पर बड़ा खारा-खारा स्वाद पैदा करते हैं, फिर उसकी चूड़ियों, पाँव के अँगूठों और नाखून घिसते हाथ की उँगलियों पर टपक पड़ते हैं। पत्र भेज चुकने के बाद वह इसके सिवा कुछ भी सोच ही नहीं पाती थी कि प्रमोद ने कैसी उत्सुकता से पत्र लिया होगा, किस ढंग से खोला होगा, और पढ़कर कैसे मुँह बिचकाया होगा। प्रमोद के विषय में वह इतना कुछ जानती है कि किस समय वह क्या करेगा, इस बात का एक-एक चित्र वह साधिकार सोच सकती है। पत्र पढ़कर विद्रूप से टेढ़े हुए होंठों, व्यंग्य से हंसती निगाहों को तो सचमुच वह अपने सामने इतनी साफ़ और साकार देख सकती है कि यदि हाथ बढाए तो छू ले। लेकिन उसी व्यग्य पर वह झुँझलाकर कुढ़ जाती है; कभी किसी बात को गम्भीरता से लेना तो सीखा ही नहीं है! हमेशा वही बचपना, चाहे कोई कैसी ही महत्त्वपूर्ण बात क्यों न हो! तभी कुत्ते के भोंकने से उसका ध्यान टूटा और चौंककर पल्ले से आँखों और मुँह को पोंछा। नेलकटर हाथ में लिये ही फाटक तक आई तो स्वयंसेवक ने नाम पूछकर बाहर से ही लिफ़ाफ़ा बढ़ाकर दे दिया। लिफ़ाफ़ा हाथ में लेते ही वह समझ गई कि वह प्रमोद का है। उसके मन में आया, भगवान् करे, मना कर दिया हो—बहुत व्यस्त हूँ इसलिए आने में असमर्थ हूँ। लेकिन पता नहीं कैसे लिफ़ाफ़ा हाथ में लेते ही वह समझ गई, वह आ रहा है, इस बात की स्वीकृति ही इसमें है। मालूम नहीं यह क्या रहस्य है कि वह प्रमोद की हर बात को इतनी अच्छी और सच्ची तरह समझ गई है, कि किस बात से उसके भीतर क्या और किस तरह की प्रतिक्रिया होगी, फिर वह क्या करेगा! अपने इस प्रकार के विचित्र रूप

से विकसित प्रातिभ ज्ञान पर उसे हमेशा ही आश्चर्य और अधिकारपूर्ण प्रसन्नता हुई है। लिफ़ाफ़ा लेते ही जब उसने ऊपर केवल 'सविता' लिखा देखा तो जैसे उसकी आँखों के आगे वे लिखते हुए हाथ, क़लम और काग़ज़ की पकड़, लिखने से पहले प्रमोद के मन में 'श्रीमती' लिखने में या बाद में 'भारद्वाज' लगाने में जो द्वन्द्व हुआ होगा—सब जैसे बिलकुल—बिलकुल स्पष्ट रूप से मूर्त हो उठे, और गर्व के क्षणों में उसे लगा जैसे प्रमोद के आँसुओं में घुटे अन्तिम शब्द नये अधिकार और नई शक्ति के साथ जागकर उसके कानों में गूँज उठे हैं—"अच्छी बात है, जो तुम्हारा मन हो सो करो, जहाँ चाहो रहो, लेकिन याद रखना तुम्हारी आत्मा चिर-कुमारी है और उसका किसी के साथ विवाह नहीं हो सकता। उस पर तो मेरा और केवल मेरा अधिकार है।" इन शब्दों की गूँज से उसके प्राण रोमांचित और गद्‌गद् हो गठे। उसका मन हुआ कि वह धीरे से बुदबुदा उठे, 'हाँ प्रमोद, उस पर सिर्फ़ तुम्हारा ही तो अधिकार है।' इतना महान् और इतना पवित्र एक है जो उसके एक भ्रू-भंग पर सचमुच पहाड़ खोदकर नहर बना सकता है, इस अनुभूति के आह्लाद से उसकी आँखों में आँसू उफन आए। विक्टर ह्यूगो की लाइनें एक-एक अक्षर करके अँधेरे के पार जलती रेखाओं में जैसे चमक उठीं—'जीवन में चरम सुख के क्षण वे हैं जब आप सच्चे मन से यह अनुभव करें कि कोई आपको अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व से प्यार करता हैं, उसके मादक नयनों के सपने केवल आपके लिए हैं, आपकी अपनी कमज़ोरियों और कमियों के बावजूद वे आपके हैं।' तुम नहीं हारे प्रमोद, लेकिन सविता तो सचमुच बिलकुल टूट गई है। और वह करे भी तो क्या? होंठों के बीच में नेलकटर दबाए, हथेलियों के बीच में लिफ़ाफा लिये वह ऐसे खड़ी रही जैसे किसी अदृश्य शक्ति को नमस्कार कर रही हो—खोले या न खोले? लिफाफा तो उसी के नाम है। कुछ क्षण असमंजस में खड़े रहने के बाद वह धीरे-धीरे हथेलियों में दबाए ही भीतर चली आई और टेबल-लैम्प जलाकर मोटी-सी किताब खोलकर पढ़ते लोकेश

की किताब पर चुपचाप लिफ़ाफ़ा रख दिया। उसे दिन मे भी चारों तरफ़ से किवाड़ बन्द करके टेबल-लैम्प जलाकर पढने की आदत थी, बिना इसके उसका मन एकाग्र ही नहीं हो पाता था।

चौंककर लोकेश ने अपना लिफ़ाफा समझकर उसे उलटा-पलटा, लेकिन सविता का नाम देखकर थोड़े चकित ढंग से पढ़ने का चश्मा लगी आँखों से उसकी ओर देखा, उनमे साफ़ प्रश्न था, 'मैं इसका क्या करूँ ?'

"प्रमोदजी का उत्तर है।" उसने यों ही निर्लिप्त स्वर में सूचना दी।

"तुम्हारे नाम है न, तुम देखो !" लोकेश ने एक बार फिर लिफ़ाफ़े की लिखाई देखी और चश्मा उतारकर हाथों में लेते हुए कहा, "सविता, तुम मुझे बहुत ग़लत समझ रही हो। मेरी उस आदमी से व्यक्तिगत रूप मे कोई शिकायत नही है।"

उसकी बात न सुनकर बीच में काटकर वह बोली, "नहीं, आप ही देख लीजिए।" मन में तो उसके आया, कह दे कि मैं क्या देखूं, मैं तो अक्षर-अक्षर जानती हूँ, उसमें क्या लिखा है !

और वह बिना अधिक रुके, बिना अधिक प्रतीक्षा किये एकदम पलटकर लौट पड़ी। उस समय उसकी चाल की हर बात में एक शहीदाना गर्वपूर्ण आत्म-विश्वास था। पीछे मुडकर उसने नहीं देखा, लेकिन वह जानती थी कि उसकी इस दृढ़ता को, अंग-अंग से अभिव्यक्त होने वाली इस दीप्त बलिदान की भावना को, लोकेश आँखें उठाकर देख रहा है, प्रभावित हो रहा है और लिफ़ाफ़ा वह उसी समय खोल सकेगा जब वह कमरे से बाहर आ जायगी···वह फिर उसी बेंत की कुरसी पर आ बैठी, उसी तरह उसने लाल रंग के बाथरूम स्लीपरों को नीचे ही छोड़कर पैर ऊपर समेट लिये और फिर नाखूनों में उलझ गई—उन्हें घिसकर गोल करने लगी। पर पता नहीं उसके पेट में क्या बगूला-सा उठा कि वह कुरसी की पीठ पर बाँह रखकर, उस पर सिर टिकाए जोर से बिलख-बिलखकर रो पड़ी। वह पत्र क्यों दे आई लोकेश को ? वह

तो सिर्फ उसका ही था। प्रमोद ने अपने निश्छल हृदय से उसे प्यार किया था और उसका बदला यह हो कि वह उसे यों बुलाकर ज़हर दे ? ऐसी क्या विवशता थी कि वह यों कह बैठी ? हाँ, वह उसे ज़हर दे सकती है। कितनी हल्की तरह बातचीत चल रही थी ! ज़रा भी तो ज़रूरत नहीं थी कि उस बात का यों अनिवार्य अन्त होता।

सुबह लोकेश के पलंग की पाटी पर बैठकर मेज़ पर रखी चाय की ट्रे में से प्याला बनाकर चीनी हिलाते हुए उसने बिना उधर देखे ही कहा, "लीजिए, फिर यह चाय ठंडी हो रही है···।" उसकी निगाहें अपनी गोद में फैले अखबार पर थीं और हाथों से वह चाय का प्याला बढ़ा रही थी।

रज़ाई को छाती से नीचे खिसकाते हुए लोकेश पलंग के सिरहाने से टिका हुआ अधलेटा उठ आया और उसने जैसे ही प्याला सविता के हाथों से लिया वैसे ही वह चौंक उठी, "अरे यह तो प्रमोद भैया हैं···।"

मुँह की ओर बढ़ता प्याला रुक गया। थोड़ा और उठकर वह अखबार की ओर झुक आया। एक बार ग़ौर से फ़ोटो देखी, नीचे का परिचय पढ़ा और फिर बड़े इत्मीनान और सन्तोष से उसी तरह सहारा लेकर बैठ गया।

जब वह प्रमोद के विषय में तस्वीर के नीचे लिखी गई लाइनों को निगल रही थी, तब लोकेश ने बड़ी तन्मयता से चाय पीते हुए पूछा, जैसे कोई अत्यन्त ही महत्त्वहीन बात कह रहा हो, "इन्हें तो तुम बहुत दिनों से जानती हो···।"

"जानती क्या, हमारे पड़ोसी ही थे, और···।" सविता का एक-एक रोम आह्लाद की पुलक से उमँग आया था।

"पड़ोसी ही नहीं, बहुत-कुछ थे।" स्वर मे बड़ी हल्की-सी दृढ़ता अवश्य थी, लेकिन जैसे चाय और प्याले से खेलने के लिए ही लोकेश ने अपने स्वभाव के विरुद्ध प्लेट में चाय उँडेल ली और थोड़ा-थोड़ा सिप करने लगा।

"बहुत-कुछ क्या ?" सविता अभी तक उमंग में डूबी थी। उसने अबोध सरलता से ही दुहरा दिया, "वे मेरे बड़े भाई हैं···गुरु हैं······"

"बस···!" चाय से गीले होंठों मे हल्का व्यंग्य उभर आया था, लेकिन इतना आक्रमणरहित जैसे एक सरल परिहास हो।

"बस !" सविता तनकर बैठ गई और उसने दोनो हाथ जोर से तस्वीर पर ढक दिए। उसने सीधी आँखो से लोकेश की आँखों में झाँका। हाथों के बोझ से अखबार खड़खड़ा उठा।

अपने चेहरे के अविश्वास को छिपाने की लोकेश ने कोशिश नहीं की······।

उस समय दोनों चुप रहे, लेकिन शेव करते समय, नहाते समय, हर क्षण लोकेश को ऐसा लगा जैसे सविता उसके आस-पास मँडरा रही है, उससे कुछ कहना चाहती है, जैसे अवसर खोज रही हो या स्वयं ही बात शुरू करने का बहाना चाहती हो। आखिर नाश्ते के समय उसने स्वयं अवसर दिया। अत्यन्त ही निष्कपट भाव से वह बोला, "प्रमोद को आज खाने पर बुला न लो !"

"मैं तो बुलाने नहीं जाऊँगी, अधिकार समझते तो खुद आते।" उस समय वह लोकेश की पैंट में बकसुआ लगा रही थी। डोरे को दाँत से काटते हुए बोली, "आप हम लोगों के बारे में क्या सोचते है ?" प्रयत्न करके भी उसकी आँखें उठी नहीं, वह दृष्टि गडाकर सुई में डोरा पिरोती रही।

"कोई खास नहीं, जैसा कि हम-उम्र लड़के-लड़कियों में होता है, वैसा ही शायद तुम लोगों मे था···कम-से-कम मैंने ऐसा ही सुना···" लोकेश ने बिलकुल ही निरुद्विग्न भाव से बात को शुद्ध वार्तालाप के स्तर पर रखते हुए ही कहा, जैसे वह किसी अनुपस्थित व्यक्ति के सम्बन्ध में बात कर रहा हो।

लोकेश प्रतिक्रिया देखता रहा और सविता मन में साहस इकट्ठा

करती रही। हाथ उसके सी रहे थे, लेकिन दिमाग़ बडी तेजी से चल रहा था। झुकी आँखों और बडे झिझकते कंठ से धीरे से उसने पूछा, "क्या तुम्हें ऐसा लगा कि हमारे बीच में कहीं वे है ?"

"इसी बात का तो मुझे ताज्जुब होता है कि क्या हमारे-तुम्हारे बीच में वह नही भी है ? या जो कुछ मैंने सुना था वह ग़लत ही था। या फिर···" वह झिझका।

"या फिर···?" एक अनिमेष जिज्ञासा।

"या फिर साफ़ है कि तुम दोनों जगह ईमानदार नहीं रही हो।"

थोडी देर चुप्पी रही और मविता आहत की तरह देखती रही। फिर बोली, "सच बताएँ ? जो तुमने सुना था वह भी ग़लत नहीं था और हमारे-तुम्हारे बीच में वह नही हैं, यह भी सही है ··।"

"यानी···?"

"यानी कुछ नहीं। जब लडकी घर से आती है तो अपने सारे सम्पर्कों और सम्बन्धों को वहीं छोड आती है। उनमे बहुत से अच्छे होते हैं, बहुत से बुरे भी; बहुत से आवश्यक होते है, बहुत से मधुर होते हैं, लेकिन उनमें कुछ को वह भूल जाती है, कुछ को वह भुला देती है। इस तरह ससुराल वह बिलकुल ही नई होकर जाती है। और ऐसा कौन लड़की कह सकती है कि उसके किसी भी तरह के कोई सम्बन्ध पहले थे हो नही ?"

"तो आप कहना यह चाहती हैं कि उसके प्रति आपके हृदय में कोई 'इमोशनल फ़ीलिंग' नही है अब···"

"हाँ, अपनी तरफ़ से तो मैं शायद ऐसा कह ही सकती हूँ।" पैंट को पलंग पर रखते हुए वह बोली। कोशिश के बाद भी बात करते समय वह अपने हाथ के काम मे या व्यस्तता में अन्तर नहीं आने दे रही थी।

लोकेश समझदारी से मुस्कराया, लड़की चालाकी से बातें कर रही है। बच-बचकर अपनी तरफ़ से 'शायद' जैसे शब्द लगाकर बोलती

है। उसने पूछा, "अगर वह आज मर जाय, तो तुम्हें कोई दुख नहीं होगा...?"

"मेरा तो खयाल यही है।" यह सोचकर सविता मुस्कराई कि इस समय उन लोगों के बीच में कैसे नाज़ुक विषय पर कैसे सचेत अनजानेपन से बातें हो रही हैं। अभी ही ज़रा-सी बात ग़ज़ब कर सकती है।

"मान लो, तुम्हें उसे जहर देना पड़े तो ?" लोकेश अपने भोले प्रश्नों से एक-एक क़दम धकेलता हुआ सविता को किधर ले जा रहा है, इसे वह नहीं जान सकी। उसकी कोई भी प्रतिक्रिया उसकी आँखों से नही छिपी थी।

"अव्वल तो ऐसा मौका आयेगा नहीं, लेकिन अगर आया भी तो मेरा तो विश्वास है, मैं झिझकूँगी नही...लेकिन ऐसा मौक़ा आयेगा ही क्यों ?"

"तो सविता !" इस बार बहुत ही दृढ़ और निर्णयात्मक ढंग से लोकेश बोला, "मेरी इच्छा है कि इस बार तुम उसे ज़हर दो, मेरे सामने। मैं देखना चाहता हूँ कि उसे जहर देते हुए तुम्हारे हाथ काँपते हैं या नहीं। तुम झूठ कह रही हो या सच। यह सिर्फ़ सुरक्षित आत्म-स्वीकृति का बहाना-मात्र ही तो नहीं है।"

"जब चाहें..." सविता मुस्कराई। इन मज़ाकों से वह डरने वाली नहीं है।

"जब का सवाल नहीं है। यह बहुत अच्छा मौका है। तुम आज ही उसे बुलाओगी। मैं बहुत गम्भीरतापूर्वक यह बात इसलिए कह रहा हूँ कि हमारा दाम्पत्य-सुख इसी घटना पर आधारित होने जा रहा है।"

उठकर कमरे की ओर जाते हुए लोकेश ने कहा, "तुम अभी उसे मेरे सामने पत्र लिखो और उसमे साफ लिख दो कि तुम्हारा इरादा उसे जहर देने का है...वह आयेगा ?"

"वह रुक नहीं सकते।"

सुनकर एक क्षण को लोकेश ने मुड़कर देखा, और फिर कुछ दूर चुप ही चलकर बोला, "अच्छा, तो तुम खत लिखो; मैं ज़रा वकील की तरफ भी जाऊँगा, खत भी साथ ले जाना होगा। उधर से ही भिजवाना होगा न !"

और तब सविता ने जाना कि वह बातों-बातों में क्या कह चुकी है, क्या कह बैठी है और उसकी स्थिति कैसी भयंकर हो उठी है। फिर भी अब, जब खत पहुँच चुका है और प्रमोद की स्वीकृति आ चुकी है तब भी शुरू की तरह उसे विश्वास है, यह सब एक मज़ाक है, और इसमें ज़रा भी सत्य और गम्भीरता नहीं है। ऐन मौक़े पर ज़रूर कोई-न-कोई ऐसी घटना हो जायगी कि सारी स्थिति एकदम सँभल जायगी, सब-कुछ एकदम पलट जायगा। या हो सकता है कि आने से पहले ही अचानक कोई ऐसा काम आ पड़े कि प्रमोद को जाना पड़े, या ऐन मौके पर अचानक कोई तार आ जाय···मतलब, कुछ-न-कुछ होगा ज़रूर कि सारी चीज़ सँभल जायगी।

और तब रोते-रोते भी सविता को आश्चर्य था कि वह इतना आत्म-विश्वास से कैसे दुहरा सकी कि वह रुक नहीं सकते। इतनी हिम्मत कहाँ से आई उसमें ? और जब वह जानती है कि वह रुक नहीं सकता तो फिर वह सब असम्भव कल्पनाएँ क्यों कर रही है ? हिम्मत पर ही उसे ध्यान आया प्रमोद का एक वाक्य। कितनी व्यथा, शिव की तरह कैसा ज़हर का घूंट पीकर उसने केवल इतना कहा था—'कमज़ोर लड़की !' हाँ, वह कमज़ोर ही तो थी जो अपनी कमज़ोरी को दूसरों के वाक्यों की आड़ में छिपाना चाहती थी, दुनिया-भर के शब्दों का बहाना लेकर ···उफ ! कितना द्रावक दृश्य था वह ! उसे वह शायद इस जन्म में तो भूल नहीं सकती, जैसे हर क्षण वह वाक्य, उसका एक-एक शब्द उसकी आत्मा के 'फ्लास्क' में तैरती मछलियों की तरह है, जो अपने विहार से पानी को ज़रा भी नहीं कँपातीं, लेकिन हमेशा तैरती दीखती हैं, अनुभव होता है कि वे हैं।

वह स्टूल पर बैठा रहा और सविता उसके मुड़े घुटनों पर कनपटी टिकाए उससे सहारा लेकर धरती पर थी। प्रमोद के हाथ उसके खुले बालों पर थे, लेकिन जैसे निर्जीव, निस्पन्द ! साँझ का अँधेरा गहरा आया था, लेकिन दोनों चुप थे, जैसे कुछ भी कहने को नहीं है, सब-कुछ समाप्त हो चुका है, बस केवल एक मौन ही बचा है जिससे उन्हें समझौता करना है, जैसे किसी यूनानी शिल्पी ने ये मूर्तियाँ गढ दी हैं जो किसी सुनसान-उजाड़ बस्ती के किनारे इसी तरह जाने कब से खड़ी हैं और न जाने कब तक यों ही खड़ी ही रहेंगी। वे शाप के प्रभाव से पत्थर बनी मूर्तियाँ—वे गवाह हैं कि यह बस्ती उन्हीं के सामने बनी, जागी और उजड़ गई। एक बहुत बड़ी चील, सारे क्षितिज को ढक डालने वाले, अपने बहुत बड़े-बड़े डैने फड़फड़ाती आई और मूर्ति के सिर पर बैठ गई। उसने अपने फैले पंखों को दो-चार बार फड़फड़ाकर शरीर साधा और ताश की फैली गड्डी की तरह पंख समेट लिये, फिर इधर-उधर देखा और जोर से अपनी कुल्हाड़े जैसी चोंच एक मूर्ति की आँख में मार दी···'ठक्'···क्षितिज मे शब्द गूँजा, दूर···उफ़ ! प्रमोद के घुटनों पर सिर रखे सविता सिसक रही थी···

"अच्छा, उठो और बत्ती जला दो···" प्रमोद ने आँसुओं के गीलेपन से सचेत होकर कहा।

सविता ने बिना कुछ कहे उठकर बत्ती जला दी। फिर वह वहीं असमंजस में खड़ी रही—रुके या चली जाय।

"सविता···!" उसने सुना।

बिना बोले वह छाया की तरह पास आ खड़ी हुई। प्रमोद ने बैठे हुए ही उसके कन्धे पर हाथ रख दिया और देर तक उसकी ओर देखता रहा—कहे या न कहे? सविता को ऐसा लगा कि वे अगस्ती-निगाहें जैसे उसके अणु-अणु मे समाई जा रही हैं, वे अभी उसकी सारी चेतना और शक्ति को सोख लेंगी और वह सूखी बालू की मूर्ति की तरह धरती पर बिखर जायगी, नहीं-नहीं, उससे अब वे निगाहें नहीं देखी जा सकेंगी।

वह दूसरी ओर देखती रही।

"हम लोग ··" थूक सटककर प्रमोद जल्दी से बोल गया, "हम लोग कहीं और नहीं जा सकते ?"

"कहाँ ?" और इस कहाँ का सीधा अर्थ था कि कैसी बातें करते हो···कितनी असम्भव !

फिर चुप्पी।

"सविता···"

"हूँ···"

"मेरी ओर देखो···"

"कहिए···" सविता ने नहीं देखा, उसके कान का इयरिंग बिलकुल नहीं हिल रहा था।

"देखो···।" स्वर में करुण याचना।

"क्या ?" मुँह घूमा, लेकिन आँखें नहीं उठीं। अपनी कमज़ोरी पर एक हल्की छाया जैसी मुस्कराहट का आभास उभरा।

"देख रही हो···?" जैसे धार की काट से धसक उठने से एक क्षण पहले कगार बोले।

सविता ने देखा, पुतलियों पर पानी की एक हल्की परत। बच्चन के एक गीत की लाइन उसके मन में उभरी—

खींच ऊपर को भ्रुओं को
रोक मत इन आँसुओं को
भार कितना सह सकेगी यह नयन की नाव।

"कुछ दीखता है···?"

एक साथ दोनों के मन में एक मधुर क्षण पर दुहराई पन्त की लाइन टकराई: "तुम्हारे नयनों का आकाश, खो गया मेरा खग अनजान ?" सविता का निचला होंठ फड़का। वह दूर जैसे आँखों के पार कहीं देखती रही—ऊपर की छत में जलती बत्ती की दो परछाइयाँ पनीली पुतलियों पर चमक रही थीं, जैसे वे दो झरोखे हैं जहाँ से झाँक-

कर वह अतीत के विशाल विस्तार को देख सकती है।

"कुछ नहीं दीखता ?" प्रमोद उसकी दोनों कनपटियों पर हाथ रखे उसकी खुली आँखों में गौर से देखता रहा, "सचमुच तुम्हें कुछ भी नहीं दीखता सविता···?"

"न···हीं···" गोली खाकर साँस तोड़ते पक्षी की तरह शब्द फड़फड़ाए। वह उन्हें देखने में ऐसे डरती थी जैसे दो अथाह-अँधेरे गड्ढों में देखने से डरती हो।

"नहीं दीखता···? ध्यान से देखो न···"

सविता को लगा जैसे उसका मनोबल कहीं हवा में घुलकर खोता जा रहा है, जैसे वह हिप्नोटाइज़ हो रही है, जैसे वह धीरे-धीरे डूबती जा रही है, जैसे एक विस्मृति का अँधियारा धीरे-धीरे चेतना पर उतर रहा है—सब-कुछ शान्त-सुनसान। केवल झींगुरों की अविराम झंकार, जैसे जंगल में बहते झरने-सी झकृति···

"दीखता है न ? देखो, एक विशाल रेगिस्तान है, चारो तरफ़ कैसा फैला हुआ है···? उसके एक किनारे पर, दूर पर, एक बाढ़ पर आई-सी नदी फैली जा रही है। देख रही हो न ? उसके किनारे खड़ा हुआ बबूल का वह नंगी बाँहें उठाए, नसों की जालों के नक्शे-सा वह पेड़···कैसा है, अकेला-अकेला, जैसे किसी ने उसे निर्वासन दे दिया हो, देश-निकाला ! और देखो उसकी एक डाली पर कितने गिद्ध बैठे हैं, हैं न ? दूर से तो बिलकुल काले-काले धब्बे-से दीखते हैं···और नीचे एक चिता जलती नहीं देखतीं ? पास वह कुत्ता कैसी जीभ निकाले हाँफ रहा है ! ग़ौर से देखो···जानती हो वह चिता किसकी है···?"

अचानक उसके गले में बाँहें डालकर, उसके कन्धे पर लटककर सविता फूट-फूटकर रो पड़ी···सिसकती साँसों में उसने सुना, 'कमज़ोर लड़की···'

नहीं, वह कन्धा नहीं था, वह किसी का गला नहीं था, जिसमें बाँहें डालकर वह रोई थी···बेंत की कुरसी के टिकाव पर दोनों बाँहें रखे वह

सिसक रही थी'''उसे पता भी नहीं था कि धूप वहाँ से जा चुकी है।

कहानी का प्रारम्भ

पाठको, मैं जानता हूँ कि मेरी कहानी दो लड़के और एक लड़की वाले पुराने त्रिकोण पर आ गई है, फिर भी मैं चाहता हूँ कि यह त्रिकोण कहानी की समाप्ति न हुआ करे।

"आपको दुनिया-भर में घूमने की फुरसत है, नेतागिरी करने को वक्त है, बस हमारे यहाँ आने को ही टाइम नहीं है।" सविता ने ताना मारा। उसका दिल धक्-धक् बजा, गला सूखने-सा लगा।

बाँहों में भरे लोकेश को छोड़ते हुए प्रमोद ने पुलककर पूछा, "कैसी रही सविता ? अरे तू बड़ी मोटी हो गई है, क्या पानी-वानी यहाँ का बहुत अच्छा है ? शहर तो बड़ा गन्दा है, बस यही हिस्सा ज़रा खुला समझ लो।"

"कहाँ ? अभी तो बीमार हो चुकी हूँ, फिर नजर लगा दो।" सविता लजा उठी। उफ़, झूठा कहीं का, ऊपर से कैसा खुश है, हँस रहा है, भीतर से चाहे जो हो रहा हो !

"तब तो भाई भारद्वाज, तुमसे हमें बड़ी सहानुभूति है। बीमारी के बाद जब यह हाल है तो अच्छेपन का भगवान् ही मालिक है…"

तीनों खुलकर हँस पड़े। अचानक जैसे याद आ गया हो, प्रमोद ने सँभलकर कहा, "अच्छा भाई, सविता, क्या खिलाना-पिलाना है, खिला दो फिर चलें; मीटिंग बीच से छोड़कर आया हूँ, अभी खोज होगी, पता चल गया तो ' खुला अधिवेशन है न, उसमें पहुँचना है।"

"हाँ-हाँ, पता है, बहुत बड़े नेता हो गए हो। क्यों हल्ला मचाते हो ?" एक क्षण सविता जैसे उस विकट परिस्थिति को बिलकुल भूल गई। वह जैसे बताना चाहती थी कि देखो लोकेश, प्रमोद बहुत बड़ा नेता है और मैं उसके साथ ऐसे अधिकार से बोल सकती हूँ।

"नहीं-नहीं, फिर आऊँगा, इस समय तो जरा जल्दी है। अब तो घर देख लिया है न !" वह खुलकर हँस पडा।

सविता के भीतर जैसे कुछ ज़ोर से कसक उठा, यह अब भी उसी तरह गला फाडकर हँस सकते हैं, दिल में ज़रा भी द्विधा नहीं उठती···?

खाने की मेज पर केवल तीन ही थे।

"अगर मैं ज़रा जल्दी-जल्दी खाऊँ तो बद्तमीज़ी के लिए माफ़ कीजिए···।" प्रमोद ने लोकेश से कहा।

लोकेश कुछ नहीं बोला, वह गम्भीर था।

जल्दी-जल्दी खाने की व्यस्तता में मुँह चलाते हुए प्रमोद ने पूछा, "यह ठीक-ठाक रहती है या बहुत तंग करती है···?"

ओफ़, कम्बख़्त कैसा मस्त होकर खाए जा रहा है ! जरा भी चिन्ता नहीं है; विश्वास नहीं करता कि सविता भी उसके साथ यह सब कर सकती है ! कैसे तोड़े ऐसे निश्छल आदमी के विश्वास को वह ? नहीं, वह खुद खा लेगी। सविता की एक-एक धडकन जैसे घड़ी की टिक टिक हो और उसे मालूम हो कि पच्चीसवीं धड़कन पर गिलोटिन का गँडासा गिरेगा और नीचे रखा सिर खच्च् से कटकर दूर जा गिरेगा ! एक-दो-तीन, उफ़ कैसे रोके वह इन सुइयों को, सुनते है मानसिक शक्ति (विलपॉवर) से बहुत से काम रोके जा सकते हैं, क्या उसकी इच्छा-शक्ति फुफकारते नाग-सी एक-एक पल सरकती इस दुर्घटना को नहीं रोक पाएगी ?

"जैसी आपने बना दी है वैसी ही है···" मुँह में ले जाते कौर को रोककर लोकेश बोला।

"कैसी ?" चौंककर प्रमोद ने ग़ौर से लोकेश को देखा, और फिर ज़ोर से हँस पड़ा, "क्या घर मे ही क्रान्ति करने लगी है ? क्यों री, क्या सुन रहा हूँ ?"

इस वक्त भी मजाक नहीं छोड़ रहे ! उसे साफ दीखता है डैमोक्लीज़ की बाल में बँधी लटकती तलवार एक-एक पल नीचे सरक रही है। उससे बोला नहीं गया। उसकी आँखों के आगे 'पो' की कहानी का वह तेज़

धार वाला पेण्डुलम घूमने लगा जो कुएँ में बन्द आदमी की आँखों के आगे घूम रहा था। वह केवल इधर-उधर चुग-सा रही है, उससे खाया नहीं जा रहा, मेज़ पर बैठी वह सिर्फ़ प्रमोद की चलती उँगलियों को देख रही है—लोकेश सब मार्क कर रहा था।

और जब खाना ख़त्म करके प्रमोद ने जल्दी से गोद में रखी नैपकिन से हाथ पोंछे तो लोकेश बोल उठा, "अरे, ये पुडिंग तो लीजिए न!" फिर उसने स्टेनलेस स्टील की खूबसूरत तश्तरी में जमाये गए चाँदी के वर्कों से मढ़े पुडिंग की ओर इशारा करके कहा, "सविता, भाई साहब को पुडिंग दो न···!"

नहीं-नहीं, अभी कोई अप्रत्याशित घटना होगी, अचानक ज़ोर से बिजली कड़कड़ाकर, छत फाड़कर यहाँ आ गिरेगी कि पुडिंग की तश्तरी के टुकड़े-टुकड़े बिखर जायँगे।

'हाँ भई, दो···फिर देर हो रही है।" प्रमोद ने चम्मच उठा लिया।

अँगूठी का नग झिलमिलाया, कलाई की चूड़ियाँ हिलीं, तश्तरी के किनारे पर ऊपर टिका अँगूठा और नीचे से उठाती उँगलियाँ काँपीं, उसे लगा वह अभी ज़ोर से तश्तरी बाहर फेंक देगी, और पागलों की तरह चीखें मारती बाहर भाग जायगी। क्या यह तश्तरी वह लोकेश की तरफ़··· नहीं···नहीं, अब उसकी चीख किसी भी तरह नहीं रुक सकती। उसने फेफड़ों में साँस खींची।

अनजाने ही तश्तरी प्रमोद की ओर बढ़ गई और काँपते हाथ की तश्तरी में से लेने में दिक्कत न हो, इसलिए एक हाथ नीचे लगाकर उसने चम्मच भर ली और तेज़ी से चम्मच होंठों की तरफ़ बढ़ाई।

दुखान्त कहानी के पाठकों के लिए मेरी यह कहानी ख़त्म हो गई है और वे बिना आगे बढ़े, बड़े मज़े में सन्तोष कर सकते हैं।

सुखान्त कहानियाँ पसन्द करने वाले नीचे की पंक्तियाँ और जोड़ लें।

अचानक प्रमोद की कलाई को लोकेश ने पकड़ लिया, भरे गले से बोला, "बस!"

चौककर प्रमोद ने उसकी ओर देखा कि दोनों एकदम घबराकर उठ खड़े हुए, क्योंकि सविता कुरसी से नीचे लुढ़क गई थी। उस ओर झपटते हुए लोकेश के मुँह से निकला, 'कमज़ोर लड़की !'

किराये का काम

किराये का काम

दफ़्तर जाने के लिए सीढ़ियों से उतर रहा था तभी अपने मकान-मालिक सेठ की ज़ोर-ज़ोर की आवाज सुनाई दी। वह किसी से लड़ रहा था। ज़ीने से बाहर आते ही देखा, पन्द्रह-बीस आदमियों की अच्छी-खासी भीड़ वहाँ जमा थी। बीच में सेठजी का सिंह गर्जन सुनाई दे रहा था। भीड़ में झाँकने से पता चला कि प्रतिद्वन्द्वी मुहल्ले के उतने ही प्रसिद्ध पुजारीजी हैं। पटेबाज़ी की मुद्रा में पैतरे बदलते हुए सेठजी चीख़-चीख़ कर कह रहे थे—"हराम का है दूसरे का पैसा, जेब काट लो, डाका डालो, लूट लो। काम तो कुछ करो मत और लेने को छाती पर चढ़-चढ़कर आओ। लेने को शेर काम को भेड़!"

"अरे सेठ होगा अपने घर का होगा, रुपये तो हम तेरे सात पुरखों से वसूल कर लेंगे। हमें किस बात का डर है? भगवान् हमारे साथ है, तेरी सात पीढियों को गर्क करेगा—जो नरक में भी जगह मिल जाय।

बने हैं धन्नासेठ, पचास ह्वेलियाँ खड़ी हैं, गोदामों में ब्लैक की गाँठें भर रखी है, रोज लाखों सट्टेबाजी मे लूटता है और पैसे देने में दम निकलता है। कोढ फूटेगा साले ! दूसरो से काम करा लो और पैसे मत दो।" पुजारीजी सेठजी की छाती पर कटखने कुत्ते की तरह चढ-चढकर आ रहे थे। वास्तव में उनके आत्मविश्वास से लगता था कि उन्हे इस संसार में डर किसी बात का नही है, क्योकि उनके पीछे भगवान् है। वडा चादरा चीवर की तरह कन्धों पर डाले, हाथ में पूजा की लुटिया लिये, वे क्रोधी दुर्वासा के कोई निकट सम्बन्धी जान पड़ते थे।

एक से पूछा—"मामला क्या है ?" उसने बताया ही था कि 'कुछ नही जी, चार आने का झगडा···' तभी सेठजी फिर गरजे—"हमारी तो सात पीढ़ियाँ नरक मे जायँगी, पर तू भगवान् की आँखों में धूल झोंक-झोंककर अपने सात पुरखे तारता रहियो ! बने है पुजारीजी ! चन्दन लगा लिया, चादरा पहन लिया, चल दिए खड़ाऊँ खटखटाते हुए ! नाको चने नही चबवा दिए तो मैं भी सेठ मलूकराम का बेटा नहीं। पुजारीजी, तुम्हे सवा रुपये के हिसाब से लेना हो तो लो, नहीं तो रास्ता नापो !"

पुजारीजी और भी ताव मे आ गए। कन्धे पर चादरे को और भी खिसकाकर, बिलकुल सेठजी के पास तक झपटकर, दुनलियों की तरह अपनी दोनों उँगलियाँ उनकी ठीक आँखों की सीध में करके क्रोध से थर-थर काँपते दहाड़े—"डेढ रुपया ! एक पाई कम नही। साले तेरी आंखे फोडकर ले लूंगा। तूने समझा क्या है ? ब्राह्मण का बच्चा हूँ। सराप दे दूंगा तो ढेर हो जायगा, फिर रोता फिरेगा। तुम्हारी तरह नहीं हैं कि बाहर ऐश करें और घर में···।" और अपनी ब्रह्मतेज से लडखड़ाती ज़बान से पुजारीजी ने सेठ और सेठानी दोनो के सम्मान में ऐसे अपशब्द कहे कि सेठजी ने आव देखा न ताव, उनकी गालियाँ उन्हें वापस करते लपके पुजारीजी का टेंटुआ भीचकर भवसागर से तारने !

तब लोगों ने बीच में आकर सेठजी को पकड़ा, पुजारीजी को हटाया। उन्हें शान्त करते हुए एक सज्जन ने पूछा—"अरे छोड़िए सेठजी, गुस्सा थूक दीजिए···मामला आखिर क्या है ?"

सेठजी मामला बताएँ इससे पहले ही लोगों द्वारा रुके हुए पुजारीजी वहीं से गरजे—"यह क्यों बताएगा, मैं बताता हूँ मामला ! इक्कीस दिन के अनुष्ठान के लिए इस साले ने मुझे तय किया। बोल झूठ कह रहा हूँ ? तब तो आया घिघियाता हुआ—'पुजारीजी, तुम्हारे चरण पकड़ूँ, एक अनुष्ठान किया है मैंने···। बस जरा मेरी गाँठें अच्छे भाव बिक जायँ। तुम ज़रा रोज़ एक घण्टे आकर पूजा कर जाया करो।' पूजन जाने किससे पूछ आया। मैंने समझाया यज्ञ की ज़रूरत है। नहीं माने। खैर डेढ़ रुपया तय हुआ। सो कभी साला कहता, तुम पन्द्रह मिनट पहले उठ गए; कभी कहता, दस मिनट पहले काम छोड़ दिया; कभी कहता, पुजारीजी ज़ोर-जोर से पढा करो, पता चले तुम कुछ कर रहे हो। बोलो, यह तो पूजा है। हमारे जैसे जी में आयेगी वैसे करेंगे, कपड़े नापने का काम तो है नहीं कि दो गिरह खींच दिया। खुद तो साले हमें बिठाकर बैत हिलाते घूमने चले जाते थे हमारे सामने; अब हमें पता लगा कि जासूसी करता है, दूसरे दरवाज़े से लौटकर खिड़की में बैठकर देखता है, या नौकर से कह जाता है। पहले ही दिन बोला, पुजारीजी सीधा ज़्यादा लेते हो—बोलो, साले हम अपने लिए लेते हैं—जितना भगवान् के लिए चाहिए उतना ही तो लेंगे, कम कैसे लें ? शास्त्रों में लिखा है सेर-भर घी तो हम पाव-भर लेकर क्या नरक में पड़ें ? अगर न हो तो तू हमारी छाती पर चढ़कर आए ! और सौ बातों की एक बात तो यह कि कोई दूसरा सस्ता मिलता तो दूसरा लगा लेता—क्यों हाथ-पैर जोड़े थे ?" पुजारीजी के मुँह में झाग आने लगे। सेठजी चिंघाड़ रहे थे—"जेब काट ले···"

कमज़ोरी

कमज़ोरी

जाड़े के दिन, तेज़ वर्षा के साथ ओले, तीखी हवा और बिजली की कड़क।

उपेक्षा भाव से मस्त खड़ा पेड़ लहरा रहा था, जैसे नहा रहा हो। यह उसकी नई उम्र की शक्ति का अभिनन्दन था। ओले उसे फूलों-से लगते; रग-रग में उसकी शक्ति और आत्म-विश्वास हिलोरें लेते।

काँपती-ठिठुरती, घायल, चोट खाई नेवली ने आकर कहा—"भैया, मुझे जगह दो।"

"जगह ? जगह-ही-जगह है, जहाँ चाहो लो।" पेड़ ने लापरवाही से कहा।

"नहीं, मुझे शरण चाहिए—तुम्हारे स्नेह की शरण ! तुम शक्तिशाली हो, प्रकृति के प्रहारों को हँसते-हँसते सह सकते हो। प्रकृति तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ पाती। मुझे अपनी छाया में ले लो, बचा लो।" ठंड

से थर-थर काँपती नेवली गिड़गिड़ाई ।

पेड़ उस छोटे-से निरीह प्राणी को देखकर दयार्द्र हो उठा। बोला—"अच्छा, मेरे पास जहाँ भी तुम्हें अपने मन लायक जगह मिले, जहाँ भी तुम उचित समझो, रहो ।"

कृतज्ञ नेवली ने पेड़ का एक चक्कर लगाया । ऊपर गई, नीचे आई, बोली, "भैया, तुम्हारी बनावट इतनी पुष्ट है कि मुझे कहीं जगह ही नहीं मिल रही । तुम स्वयं ऐसा भाग बता दो, जहाँ मैं अपने रहने लायक जगह बना लूं ।"

पेड़ स्नेह से हँसा, दया से बोला, "मेरे बाईं तरफ मेरा सबसे कमज़ोर हिस्सा है, वहीं अपने लायक जगह खोद लो ।"

नेवली ने जगह खोद ली और रहने लगी ।

कुछ समय बाद उसका प्रेमी नेवला आया । जगह की कमी पड़ी तो उसने फिर पेड़ से प्रार्थना की—"भैया, थोड़ी जगह और । इसके बिना मैं रह नहीं सकती ।"

और अनुमति पाकर उसने और जगह खोद ली । उस परिवार में बच्चे आये तो नेवली ने बिना अनुमति लिये ही और जगह बना ली । पेड़ उसके इस स्नेह के अधिकार पर पुलक कर बड़प्पन से मुस्कराया ।

एक साल बीत गया ।

फिर जाड़ा आया, वर्षा हुई, ओले पड़े । नेवली-परिवार के कारण इस बार पेड़ की जड़ इतनी खोखली हो चुकी थी कि इस झोंके को वह सह नहीं सका और भहराकर सिर के बल गिर पड़ा ।

लेकिन नेवली इस आँधी-पानी से पहले ही अपने परिवार के साथ दूसरा सहारा खोज चुकी थी ।

लंच टाइम

लंच टाइम

अपना काला चोगा चमगादड़ के परों की तरह फड़फड़ाते वकील साहब ने कमरे में घुसते हुए पूछा—"क्यों इतनी जोर-ज़ोर से हँस रहे हो ? क्या बात हो गई ?"

वकील साहब के आते ही तीनों चुप हो गए थे, लेकिन हँसी थी कि मुस्कराहट बनकर फूट पड़ रही थी। ज्योति ने ब्रज की तरफ देखा और मेज़ के कोने पर सिर टेककर खिलखिलाकर हँस पड़ी। उसने साड़ी का पल्ला मुँह से लगा लिया। ब्रज दूसरी ओर मुँह करके उस हँसी पर अधिकार पाने की असफल कोशिश करता हुआ फट पड़ता था। उनकी आँखों में आँसू आ गए। दत्त ने साँस रोककर अपना अधिक-से-अधिक ध्यान इन हंसते हुए लोगों से हटाकर जैसे अनजान बनकर पूछा—"लंच हो गया ?"

"हाँ जी।" मुँह में सिगरेट लगाकर वकील साहब माचिस की डिबिया

पर सींक मार रहे थे, उन्होंने सिर हिलाया।

"क्या हुआ ? सरकारी वकील ज़्यादा क्रास कर रहा है क्या ?" दत्त ने न चाहते हुए भी देख लिया कि ब्रज ज्योति की तरफ़ उसके बारे में इशारा कर रहा है—देखा साला कैसा गम्भीर बनकर बातें कर रहा है ! उसके पेट में बगूला-सा उठा और सारी गम्भीरता झटके से उड़ गई। वह भी फटकर हँस पड़ा, और एकदम उठकर बाहर बरामदे मे भाग गया। दोनों मुन्शी और एक मुवक्किल आश्चर्य से आँखें फाड़े, मुस्कराते हुए इनकी हँसी मे सहयोग दे रहे थे।

वकील साहब ने पहला जोर का कश खीचा और इधर-उधर देखकर पूछा, "क्यो भाई, आखिर कुछ बात भी तो बताओगे ?" वे यहाँ का माहौल देखकर मुस्कराए।

इस पर दोनो फिर हँस पड़े। दत्त बाहर बरामदे मे खम्भे के पास खड़ा हँस रहा था। वकील साहब ने मुशी रामस्वरूप से कहा—"मुशीजी, क्या बात है ?"

मुन्शीजी ने हाथ की मिसिल के कागज़ों को उलटा-सीधा करना छोड़कर इन दोनो की ओर देखा, फिर मुस्कराते हुए कहा—"साहब, अभी देवीसहायजी आये थे…"

"आपको ढूँढते हुए तो गये ही थे, मिले नहीं ?" ज्योति ने तर्जनी से सुनहली कमानी का चश्मा ज़रा ऊपर उठाकर, साड़ी के पल्ले से आँखों की कोरों का पानी पोंछते हुए पूछा।

"कौन देवीसहाय ?" वकील साहब ने याद करने की कोशिश की। असल में उनके दिमाग में अभी चलते मुकद्दमे के सवाल-जवाब ही गूँज रहे थे। लंच टाइम में झुँझलाए हुए वे चैम्बर से भागे आ रहे थे। दिमाग परेशान था। और भी अधिक चिड़चिड़ाहट हो रही थी उन्हें, कुतिया के पीछे लगे पिल्लों की तरह अपने साथ दोनों ओर चलते मुवक्किलों से—"वकील साहब, इस मुकद्दमे में क्या होगा ?" "सरकारी वकील तो यह कहता है।" इत्यादि पूछ-पूछकर उसकी तो नाक में दम

किये डाल रहे थे। वकील साहब ने उन्हें झिड़क दिया था—"अरे भाई, मुझे कुछ सोचने भी दोगे या यों ही दिमाग़ चाटे जाओगे ? मुकद्दमा ख़राब हो जायगा तो कहोगे कि यह हुआ वह हुआ।" मोटी-मोटी किताबों के गट्ठर और लॉ रिपोर्टर की फाइलें लिये दोनों मुवक्किल सहमकर पीछे ही रह गए थे। वकील साहब ने सिगरेट का कश खींचकर बाहर खड़े दत्त से कहा—"चाय के लिए कह दिया ?"

"जी साहब, अभी आ रही है।" दत्त ने बड़ी तत्परता से उत्तर दिया। फिर वह भीतर आकर अपनी कुरसी पर बैठ गया।

"वही देवीसहाय सा'ब, टल्लूमल फ़र्म से जिनका छः महीने की तनख़ा का मुकद्दमा है।" मुंशी ने बताया।

"ओह !" वकील साहब को याद आ गया, फिर उन्होंने इधर देखा।

"कह रहे थे, हमारी तनखा वकील साहब दिला दें तो अपनी लड़की की शादी कर दें। बड़ी लड़की को 'छूछक' भेजना है। कोई उनकी भांजी ब्याही जा रही है सो उसे भात देना है।" दत्त ने बताया। वह एक बार वकील साहब की ओर देखता और एक बार ब्रज और ज्योति की ओर। वे दोनों एकदम हँस पड़ने के मूड में मुँह पर हाथ रखकर देख रहे थे।

"वकील साहब क्या अपनी जेब से दे दें ? वाह यह अच्छी कही ! तुम्हारा तो अदालत में मुँह न खुले और वकील साहब रुपये दिला दें !" ग़ुस्से के मारे वकील साहब ने एक झटके से नाक में से ढेर-सा धुआँ निकाल डाला और दो उंगलियों से चोगे के भीतर से झाँकती कमीज़ के कालर पर बँधी कलफ-लगी सफ़ेद मलमल की पट्टी को ज़रा ठीक किया। उनकी अँगूठी का हीरा ज़ोर से चमक उठा।

"देखिए, वह आ गए।" ब्रज ने कहा, ज्योति और दत्त ने भी आँखें उठाकर उधर देखा। वकील साहब जान-बूझकर गम्भीर बने बैठे रहे। सारा वातावरण शान्त हो गया।

बीच की एक लम्बी चली जाती गैलरी के दोनों ओर वकीलों के

कमरों के दरवाज़े थे, और इन दरवाज़ों के बिलकुल सामने कमरों के दूसरे दरवाजे इस गैलरी के समानान्तर चले जाते बरामदे में खुलते थे। इस ओर के कमरे वाले बरामदे में सैकड़ों आदमी—वकील, मुवक्किल, टाइपिस्ट, चपरासी, गवाह और अन्य लोग—आ-जा रहे थे। अदालत के लंच का समय था, इसलिए फल वाले, दाल-सेव वाले और वकीलों के कमरों मे चाय-पानी पहुँचाने वाले नौकर इधर-से-उधर भाग रहे थे। इस भाग-दौड़ में आधे वकीलों के मुंशी थे जो अदालत के समय उनकी किताबों तथा मिसिलों के बस्ते सँभालते थे और शेष वक्त मे साग-सब्ज़ी लाने और बच्चों को स्कूल पहुँचाने का काम कर देते। बरामदे के दरवाज़े में तभी लगभग अड़तालीस साल का एक व्यक्ति नमूदार हुआ। यह व्यक्ति बहुत धीरे-धीरे जैसे घिसट-घिसटकर चल रहा था। पीला और बहुत पुराना-सा मुडा-तुड़ा कोट, घुटनों से ज़रा नीचे लटकी धोती, काली पतली-पतली टाँगें और बाटा के किरमिच के जूते। शायद ख़रीदने के बाद से उन पर सफ़ेदी नही हुई थी और फीतों का दूर-दूर तक पता नही था। दोनों जूतों की जीभें दुमकटे कुत्तों की पँछ की तरह उठ आई थी। अँगूठे और छोटी उँगली की जगह दो छेद हो गए थे। कमीज़ के बटन नहीं थे और सिकुड़ी छाती के सफेदी की ओर बढते भूरे बाल झांक रहे थे, बनियान नहीं थी। दोनों कंधे इस तरह ऊपर उठे थे और कमर कुछ इस तरह झुक गई थी जैसे उनके दोनों कंधों को पकड़कर किसी ने ज़ोर से दबा दिया हो। गरदन अपेक्षाकृत लम्बी और टेंटुआ उभरा हुआ। नाक के दोनों ओर आँखों के नीचे से होंठों के सिरों तक दो मोटी-मोटी झुर्रियाँ चली आई थीं। दो दिन की बढ़ी दाढ़ी वाली चमड़ी मे सफ़ेद बाल चमक रहे थे। टीन के फ्रेम का अंडाकार मैले-गंदे काँचों का चश्मा—जिसका एक काँच टूट गया था और दूसरी ओर से मैले-से डोरे से कान पर बाँधा गया था। कान ज़रा बाहर की ओर निकले हुए। निस्तेज आँखें और आधे पागलों की-सी बेवकूफ़ निगाहें। झुर्रियोंदार माथा और आध-आध इंच के खिचड़ी बालों की चारों ओर

पट्टी—क्योंकि चाँद के बीच की बड़ी-सी गोल चिंदियाँ गंज के कारण गायब थी। हाथ में डोरों से बुना एक थैला लेकर इन्होंने प्रवेश किया। इनकी चाल-ढाल और सूरत-शक्ल से लगता था कि इन्होंने निश्चय ही बही के आगे बैठकर ज़िन्दगी-भर कलम घिसी है।

"आओ बाबू देवीसहायजी, वकील साहब आपको ही पूछ रहे थे।" कमरे के बीचों-बीच रखी मेज़ के चारों ओर ये लोग बैठे थे और उस दरवाज़े की ओर वकील साहब की पीठ पड़ती थी। ब्रज बिलकुल सामने था, बाईं ओर दत्त और दाहिनी ओर ज्योति। ब्रज ने उन्हें देखते ही स्वागत में कहा। ये लोग इसी साल ग्रेजुएट होकर आये थे और इन वकील साहब के यहाँ काम सीखते थे। तीनों ही एक-दूसरे की दृष्टियों को बचा रहे थे।

तभी नौकर इन लोगों के बीच में ट्रे रख गया। इस बड़ी-सी प्लेट में ककड़ी के पाँच-छः सैंडविच थे। वकील साहब ने आखिरी कश खींचकर सिगरेट एक ओर कोने में फेंक दी और झटके से उठकर सीधे होते हुए बोले—"आओ बाबू देवीसहायजी, बैठो।" और अत्यन्त ही व्यस्तता से वे इस तरह सैण्डविच उठाकर खाने लगे जैसे यह वाक्य उन्होंने किसी को भी सम्बोधित करके नहीं कहा हो। दत्त चार प्यालों में चाय बना रहा था। वहाँ कोई बैठने की जगह नहीं थी।

बिलकुल वकील साहब के पास आकर देवीसहाय ने इधर-उधर बैठने के लिए जगह देखी। पास पड़े तख्त पर अपने लाल बस्ते, मिसिलों के पुलन्दे और अन्य काग़ज़ात फैलाए दोनों मुंशी दीवार से लगे बैठे थे। वे दोनों ही किसी मिसिल में से देखकर किसी के सम्मन पर नाम और वल्दियत लिख रहे थे। एक बोलता, दूसरा लिखता। एक ने काग़ज़ ज़रा नाममात्र को हटाकर तख्त के कोने पर ज़रा-सी जगह बनाकर उन्हें बैठने को जगह देते हुए कहा—"बैठो बाबूजी, यहाँ बैठो।" वे फिर काम में लग गए।

देवीसहाय ने बड़े सँभालकर बेंत को तख्त से इस तरह टिकाया

जैसे ज़रा ज़ोर से रख देंगे तो उसके लग जायगी। फिर स्याही के धब्बों से भरी बहुत ही पुरानी-फटी दरी वाले तख़्त के कोने पर हाथ टेककर उस पर बहुत धीरे से बैठ गए। बड़े आहिस्ता से गोद में उन्होंने थैले को रख लिया और उस पर सावधानी से दोनों हाथ रखकर वे जैसे किसी रहस्य को खोलने की मुद्रा में वकील साहब की ओर झुक गए। वे इस तरह हाँफ रहे थे जैसे बहुत दूर से चले आ रहे हों।

"हूँ।" वकील साहब ने जल्दी जताने के लिए घड़ी की ओर देखा और घोड़े की नाल की साइज़ का कटाव बनाते हुए मुँह भरकर सैण्डविच कुतर ली। फिर चाय का कप होंठों की ओर बढ़ाया। इस 'हूँ' का मतलब था—जल्दी कहो, क्या बात है ?

देवीसहाय ने तीनों की ओर देखा, फिर नाक के स्वर में गिनगिनाते हुए कहा—"वकील साहब, हमारी तनख़ा कब तक मिल जायगी ?"

तीनों खिलाड़ी फिर हँसने को हो आए। वकील साहब ने कहा—"बाबू देवीसहायजी, तुम तो कभी-कभी बेवकूफ़ों की-सी बातें करते हो। जब तक मुकद्दमा ख़तम नहीं होगा तब तक रुपये कैसे मिल जायँगे ?" होंठों से कप लगाकर उन्होंने ज्योति की ओर देखा।

इसी बीच दत्त ने ज़रा ज़ोर से, जैसे किसी ऊँचा सुनने वाले से कह रहा हो, कहा—"वकील साहब कहते है आपसे अदालत में बोला तो जाता नहीं है ?"

देवीसहाय ने वकील साहब की ओर देखा, जैसे पुष्टि करना चाहता हो—क्या सचमुच वे ऐसा कह रहे है ? फिर डरे हुए अपराधी बच्चे की तरह कहा—"अब के तो वकील साहब, मैंने बयान बड़े अच्छे दिये थे।"

"हाँ, अब के तो ठीक थे।" वकील साहब ने गैलरी के पार सामने वाले वकील के कमरे में देखते हुए कहा।

"एक बयान और करवा दो, अब के ऐसे दूँगा कि बस मामला पार हो जाय।" देवीसहाय ज़रा जोश में आ गए।

"वह तो जब होगा तब होगा।" वकील साहब ने प्याला ट्रे में रख दिया।

"नहीं, एक बयान मेरा वैरी गुड और करा दो।" देवीसहाय ऐसे गिड़गिड़ाए जैसे पैर छू लेंगे।

"वकील साहब कह रहे हैं, तुम्हारे वैरी गुड बयान हो जायँगे। चिन्ता मत करो।" वकील साहब ने विरक्तिपूर्वक ब्रज को देखा कि टालो इस बला को। इस 'वैरी गुड' शब्द पर तीनों फिर इधर-उधर गरदन घुमा-घुमाकर हँसने लगे थे।

"हाँ वकील साहब, मुझे रुपये की बड़ी ज़रूरत है। साला मकान वाला तंग कर रहा है। तुम्हारी बड़ी लड़की के लड़का हुआ है सो छूछक जाना है। भांजी को भात देना है, और घर पर तुम्हारी बहू बीमार धरी है दो महीने से। रुपये दिला दोगे तो छोटी लड़की के हाथ पीले कर दूंगा।" वे कहते रहे।

शायद यही बाते वे इसी तरह कहकर गये थे, क्योंकि इस बार तीनों बुरी तरह खिलखिलाकर हँस पड़े। ज्योति के मुँह में तो चाय थी, उसे एकदम सटकनी पड़ी, बुरी तरह खाँसी आ गई।

तभी मुंशी रामस्वरूप बोले—"बाबू देवीसहायजी, वकील साहब का शुकराना तो दिलवाओ।"

"सब दिलवाऊँगा, चिन्ता मत करो।" उन्होने मुशीजी की ओर पंजे फैलाकर उन्हें सान्त्वना दी।

मुंशीजी खिसककर मेंढक की तरह मिसिल और किताबे पार करते देवीसहायजी के पास आ गए—"चिन्ता तो कर ही नही रहे। आज तो कुछ दिलवाओ।"

"अभी कहाँ, रुपये मिल जायँगे···" वे बुद्धू की तरह इधर-उधर देख रहे थे। असल में उन्हें इन लोगों की हँसी का कारण नहीं समझ आ रहा था।

"भैया, बाबू लोगों को जब तक कुछ खिलाओ-पिलाओगे नहीं,

इन्हें जोश कैसे आएगा ?" मुंशी उनके कन्धे पर हाथ रखकर बोला।

"मुशीजी, तुमने इनकी अर्जी दाखिला दे दी ?" वकील साहब ने नई सिगरेट जला ली थी और बात करते समय उनकी नाक और मुँह दोनो से धुआँ निकल रहा था।

तभी वे दोनों मुवक्किल, जिनसे पीछा छुडाकर वकील साहब आये थे, कमरे मे आ गए। तख़्त पर किताबे सँभालकर रखते हुए उन्होने फिर सहमी-सी निगाह से वकील साहब की ओर देखा और आज्ञा की प्रतीक्षा में अर्दली की तरह खडे हो गए।

"अभी नही साहब !" मुशीजी ने वकील साहब की बात का जवाब दिया, फिर देवीसहाय के कान के पास मुँह लाकर कहा—"बाबू देवीसहाय, एक रुपया सात आने दिलवाओ, अर्ज़ी दाखिल देनी है।"

"एक रुपया सात आने ! पहले रुपये दिये थे सवा सौ···" देवीसहाय के मुँह पर हवाइयाँ उडने लगी।

"अरे पहले रुपये कोर्ट फीस थी, ये तो देखो, छः आने छापने के ···" मुशी ने उँगलियाँ हवा में सरगम की तरह चलाईं, जिसका अर्थ था टाइप। "एक आना कागज़ और एक रुपये के स्टाम्प। लाओ निकालो।"

देवीसहाय ने जैसे सहायता के लिए देखा। वकील साहब ऊपर मुँह करके पंखे पर आँखे गड़ाए मुँह से धुआँ निकालते कुछ सोचने लगे थे। तीनों सिखाड़ी ताक लगाए घूर रहे थे कि अब क्या बेवकूफ़ी की बात आती है कि तीनों हँस पड़ें। देवीसहाय ने फिर अपनी जेबें टटोली।

"जब तक अर्ज़ी नहीं दी जायगी तब तक कैसे अगली पेशी होगी ?" मुंशी उन्हें समझा रहा था।

उन्होंने बड़े मरे और काँपते हाथों से चारों जेबें टटोलने के बाद कहीं भीतरी जेब से चश्मे की एक बहुत पुरानी डिबिया निकाली। उसके चारों ओर कसकर कई बार सुतली से लपेटे दिये गए थे। सब लोग ऐसी

उत्सुकता से उन्हें देखने लगे जैसे अभी उसमें से कोई साँप निकलेगा। देवीसहाय ने सुतली खोल डाली, फिर बड़े सँभालकर डिबिया खोली। बहुत पुराने नीले-गन्दे मखमल पर कुछ कागज़, जिनमें एक पर जन्म-कुण्डली के नक्शे चमक रहे थे, एक अस्पताल का परचा और एक-एक रुपये के कुछ नोट रखे थे। उन्होने डिबिया तख्त पर रख दी और नोट उठाकर मुँह से उँगली द्वारा थूक लेकर इस तरह गिनने लगे, जैसे सौ-दो सौ नोट हों, लेकिन वे थे चार ही। एक बार गिनकर दुबारा गिनना शुरू किया···

"अभी तो एक बार और गिनेंगे।" दत्त ने ज्योति को बताया।

"आपसे तो नोट भी नही गिने जाते है, लाओ मैं गिनूं।" और एक तरह से मुशी ने रुपये उनके हाथ से छीन लिए, वे रोकते रह गए।

"मुंशीजी, एकाध रुपया इनसे ज्यादा ले लीजिएगा, बाद में ज़रूरत पड़ती है। नोटिस की रजिस्ट्री होगी।" वकील साहब को जैसे याद हो आया।

नौकर ट्रे उठा ले गया।

"सरकार···" देवीसहाय एकदम जैसे बौखला गए। एक बार मुशीजी की ओर मुड़े और एक बार वकील साहब की।

"सरकार क्या होता है ? फिर एक अर्जी भी दाखिल करनी हो तो हमें रुकना पड़ता है। हम तुम्हारे पीछे कहाँ-कहाँ मारे फिरेंगे ?" वकील साहब ने झिडका।

"वकील साहब कहते है, तुम तो रोड इन्सपेक्टर की तरह सड़कें नापते हो।" ब्रज ने फिर जोर से कहा, तीनो फिर हँस पड़े। रुपये मुंशीजी ने सब मोड़कर जेब में रख लिये और तख़्त पर रखी डिबिया को ज़ोर से बन्द कर दिया।

"देवीसहायजी, ये बीबीजी कह रही हैं, कुछ मछली-वछली नहीं खिलवाओगे। ये कहती है, वकील साहब और मुंशीजी को तुम कैसे

ही न कैसे समझ लोगे, कुछ हम बाबू लोगो को भी तो मिल जाय।" दत्त ने बड़ी गम्भीर मुद्रा बनाकर ज्योति की ओर सकेत किया।

रुपये छिन जाने से देवीसहाय बड़े हतप्रभ हो गए थे। मुँह पर एक झुर्री आती एक जाती, जैसे बड़े उद्विग्न हों। उन्होने बड़ी निर्जीव आँखों से ज्योति की तरफ़ देखा, यह जानने के लिए कि क्या सचमुच बीबीजी ऐसा कह सकती है ? ज्योति ने कुहनी मेज़ पर टिका ली थी, और हथेली पर ठोड़ी टिकाए, चुपचाप दार्शनिक मुद्रा मे यह सब देख रही थी। जब तक वह हँसती नहीं थी उसकी आँखें बडी निस्तेज और बुझी-बुझी-सी रहती थी, मुख ऐसा भावहीन जैसे कभी हँसना-मुस्कराना और चमक नाम की चीज़ इसने जानी ही न हो। एक ऐसा बुझापन और रूखापन उसके चेहरे पर था जो अक्सर निर्जीव विषय को रात-रात-भर पढ़ने वालों के चेहरे पर आ जाता है। उसने कोई भाव नही दिखाया।

"ये कहती है, हमे गोल वाली मछली खिलाना, चपटी नहीं।" ब्रज ने जोड़ा।

वे कुछ कहे इससे पहले ही मुशीजी बोले—"खिलाएँगे साब, खिलाएँगे। ज़रा इनका मुकद्दमा ठीक हो जाय बस···फिर चाहे जितनी खाइए। इनकी छोटी लडकी तो मछली बडी अच्छी पकाती है। आप सबकी दावत करेंगे।"

"हमे कैसे मालूम हो, अभी तक तो इन्होंने एक पान भी नही खिलाया।" दत्त बोला। "क्यो देवीसहायजी, देखो बाबू लोग क्या कह रहे है ?" मुंशीजी ने इस तरह कहा जैसे इस बात का उन्हे जरा भी पता नहीं था। फिर उन्हें समझाने के स्वर में बोले—"ऐसे कहीं कुछ काम होता है, बाबू लोगो को खुश रखा करो। इस थैले में क्या है ?" उन्होंने थैले की ओर हाथ बढ़ाया।

देवीसहाय जैसे तन्द्रा से चौक उठे हों, उन्होने जल्दी से थैला बचाने के लिए दूसरी तरफ़ रख लिया। बड़ी मुश्किल से हकलाकर बोले—"कु·· कुछ···नही।"

"अरे तो ऐसे मरे क्यों जाते हो, लाओ मैं देखूं !" मुंशीजी ने झपटकर थैला छीन लिया। देवीसहाय ने उसे पकड़कर थोड़ा खींचा, लेकिन मुंशीजी का खिचाव ज़्यादा था। उन्होंने बड़ी असहाय और निरीह दृष्टि से चारों तरफ देखा।

मुंशीजी ने थैला हाथ में लेकर उन्हें समझाया, "जब तक बाबू लोगों को खुश नहीं रखोगे, कैसे ये लोग वकील साहब से आपके काम की सिफ़ारिश करेंगे !" कहकर उन्होंने थैले की आपस में बँधी तनियाँ खोल डालीं और उसमें से एक मैला तौलिया निकालकर एक तरफ़ रख दिया।

देवीसहाय के होंठ फड़फड़ाए। उन्होंने फिर एक बार विरोध करने के लिए हाथ फैलाए, लेकिन मुंशीजी ने झिड़क दिया। उसने थैले से दो शीशियाँ निकालकर तख्त पर खड़ी कर दी थीं—एक छोटी, एक बड़ी। दोनों में दवा भरी थी और काग़ज़ के खूराकों के निशान काट-कर चिपकाये हुए थे। सब लोग फिर गौर से देखने लगे थे—देखें अब इसमें से क्या निकलता है ?

मुंशीजी ने चार संतरे, तीन मोसम्बी और एक सेब निकालकर मेज़ के सिरे पर रख दिए।

"आज तो देवीसहायजी, बड़ा माल लिये आ रहे हो और कह रहे थे कुछ नहीं है।" दूसरा मुंशी वहीं दीवार के सहारे से बोला।

"अरे साहब, ये देवीसहायजी बड़े खुशमिज़ाज आदमी हैं। ज़रा आपकी थाह ले रहे थे।" कुटिलता से मुस्कराकर मुंशी रामस्वरूप ने कहा, "क्यों, है न देवीसहायजी ?".

"तो ये हमारे लिए लाए हो !" ब्रज की आँखों में चमक आ गई।

"हाँ-हाँ खाइए।" इस बार बडी मुश्किल से जैसे गले में अटके कफ को साफ़ करके देवीसहाय मुस्कराये—लगा, रोने लगेंगे।

"अरे खाइए बाबू साहब, आप तो देख रहे हैं।" मुशीजी ने संतरे के छिलके में अँगूठा गड़ाकर छील डाला।

फलों में हिस्से-बाँट हो गए, और देवीसहाय ने मरे-मरे हाथ से तौलिया थैले मे डाला, ऊपर से शीशियाँ ठूँसी और थैला खड़ा करके चुपचाप संतरे और मोसम्बियाँ चूसी जाती देखते रहे।

तीनों सिखाडी बडे प्रसन्न थे। कुछ हिस्सा मुंशियों को भी मिल गया था। वकील साहब बड़े गौर से सामने खुली किताब में कुछ पढ़ते हुए दूसरे हाथ में छिले हुए संतरे की फाँकें पकडे रहे—याद आ जाता तो मुँह में एक डाल लेते। देवीसहाय बुद्धू की तरह इधर-उधर देखते रहे। सब लोग अपने-अपने कामों में व्यस्त थे। उन्होंने छडी उठाई, थैला पकड़ा और उठ खड़े हुए।

"तो बाबूजी, मैं जाऊँ?" कुछ देर खडे रहकर उन्होंने वकील साहब से झिझकते स्वर मे पूछा।

वकील साहब सोते से जागे। खूब ज़ोर से सिराई लाकर बोले—"हाँ अब तुम जाओ ··और हाँ, चिन्ता मत करो···सब हो जायगा। तुम्हारे पैसे हम दिला देंगे।" वे फिर डूब गए।

मुंशी ने तभी कहा—"ऐसे थोडे ही मिलते है रुपये! सबको तो तुमने खुश कर दिया, मुंशीजी क्या भाड़ में जा पड़ें? अरे एक-दो आने बीड़ी के तो देते जाते।" और उसने नि:संकोच और बेलाग होकर देवीसहायजी की सारी जेबें ऊपर से टटोल डाली, फिर टेंट भी इस तरह टटोली जैसे थाने में किसी जेबकट की तलाशी ली जाती है। कुछ नही था।

"जाने दो बेचारे को, ज़्यादा तंग मत करो।" वकील साहब ने बीच में डिस्टर्ब होकर कहा।

"अच्छा जाइए, लेकिन भूलना मत···।" मुंशी ने काफ़ी अनुकम्पापूर्वक कहा।

देवीसहाय पाँव घिसटाते-घिसटाते बाहर की ओर चल दिए। ज्योति एकदम सचेत होकर अपनी उँगली मेज पर रख-रखकर बता रही थी—"पहले यह कह रहे थे···कैसे उन्होने 'वैरी गुड' बयान दिया था। जज

ने पूछा यह बात हुई, इन्होंने कहा 'नो' लिखो 'नो', और उस वक्त तक अपना बयान रोके रखा जब तक जज ने 'नो' नहीं लिख लिया···"
तीनों फिर हँस पड़े।

"बेवकूफ़ है···" वकील साहब कह ही रहे थे कि बाहर किसी कोर्ट में चपरासी ने ऊँची आवाज़ में बाँग दी—"रघूमल मुन्नेलाल हाज़िर हैऽऽ।"

लंच टाइम खतम हो गया था। वकील साहब झटके से उठे। उनके गले की दोनों पट्टियाँ और कालर हिले।

उस समय बाहर वकील साहब के दरवाज़े के सामने बरामदे में खड़े देवीसहाय ने थैले मे से एक-एक करके दोनो शीशियाँ निकालीं और डाट खोलकर करौदे की झाडी मे औंधी कर दी। जब सारी दवा फैल गई तो उन्हें ज्यों-की-त्यों थैले मे ठूँसा, ज़ोर से नाक साफ़ की और उँगलियों को खम्भे से पोंछते हुए डगमगाते कदमों से सीढियाँ उतरने लगे।

तभी बरामदे से काली मुर्गी की तरह वकील साहब गुज़र गए—दो चूज़ों की तरह उनके साथ मुवक्किल दोनों ओर लगे थे।

———

साइकिल

एक बड़ा पहिया जैसे उसके दिमाग़ में छा गया और फिर बड़ी तेजी से घूम उठा। उसे सब-कुछ ऐसा धुंधला-धुंधला दीखने लगा जैसे वह बरसते पानी में भीगती खिड़की के काँचों के पार देख रही हो। फिर वह पहिया दूर, पीछे अँधेरे में हटता गया, हटता गया और सहसा दो पहियों में बदलकर उसकी खुली अपलक ताकती आँखों की पुतलियों में घूमने लगा। उसकी निगाह सामने कच्चे रास्ते पर जाती हुई बैलगाड़ी के मोटे-मोटे पहियों पर अटक गई। गाड़ी पर करब लदी थी और गाड़ीवान उसके ऊँचे पहाड़ के पीछे छिपा हुआ था। अक्सर उसका चाबुक लेकर उठता हुआ हाथ दिखाई दे जाता था। चाबुक पड़ते ही सिर हिला-हिलाकर बैल पीछे चौड़ी लीकें छोड़ते हुए दौड़ने लगते थे। पास वाले पहिये के ऊपर ही धुएं से काली एक लालटेन लटक रही थी। गाड़ी से ज़रा पीछे हटकर एक ग्रामीण युवक सिर पर एक पोटली और कंधे पर लाठी

रखे तथा चमरौधा चरमराता चला जा रहा था। गले मे पड़े उसके दुपट्टे का एक छोर उसकी बगल में होकर पीछे गया था और लाल लहँगा पहने, घूँघट काढ़े एक स्त्री की पीली ओढनी के छोर से बँधा था। स्पष्ट ही, पीछे-पीछे चुपचाप चली आनेवाली उसकी नवविवाहिता पत्नी थी जिसे वह सभवतः बिदा कराके ला रहा था। आसमान में नीचे उतरते सूरज की किरणो मे उसकी ओढनी का गोटा चमक रहा था। कैसी गाय-सी वह पीछे-पीछे चुपचाप चली जा रही थी! रश्मि उसे देखकर सोचने लगी कि आगे जाती बैलगाड़ी और पीछे की इस जोड़ी में कितना साम्य है! बैल चल रहे हैं, और गाड़ी घिसट रही है। उससे अधिक नही देखा गया तो उसने झटके से खिड़की बन्द कर दी।

कुरसी पर बैठे-बैठे ही आनन्द ने पीछे मुडकर देखा—"क्यो?" दृष्टि का प्रश्न मुखर हुआ—"खोल दो न? एकदम अँधेरा हो गया।"

तब सहसा सचेत होकर रश्मि ने खिडकी खोल दी, परदे ठीक कर दिए और बीच की पीतल की मेज़ पर कागज़ के सिकुड़े हुए फूलों को खोलती और पीतल के गमले के आस-पास सजे हाथी, घोड़े और बारहसिगो को ठीक से रखती हुई बोली—"नहीं आ रहा तो आप क्यों अपनी चाय ठंडी किये दे रहे है? पी लीजिए, उसके लिए फिर बन जायगी।"

होंठो के कोने मे हाथीदांत के होल्डर मे लगी सिगरेट दबी थी और दोनो हाथो से अखबार फैलाये हुए आनन्द पीछे खिड़की से आनेवाले प्रकाश में अखबार पर निगाह अटकाये हुए था। यों ही ज़रा-सी कलाई घुमाकर घड़ी पर निगाह फेंककर उसने होंठों के दूसरे कोने से धुआँ निकालते हुए कहा—"क्या हुआ? पाँच बजकर कुल दस ही तो हुए है। आता ही होगा।" वह फिर अखबार में खो गया। दो क्षण बाद, जैसे उसे सहसा कुछ बात याद आ गई हो, एकदम बोला—"हाँ, तुम तैयार क्यो नही हो जातीं जल्दी से? यह क्या कर रही हो? सब ठीक है, जाओ कपड़े पहनो।"

"भई, मैने कह तो दिया कि मेरा मन नहीं है।" दबे स्वर में रश्मि बोली। "फिर वही बात ! कुछ दूसरे का भी ध्यान रखा करो। अब एक भले आदमी से कह दिया है, तो जरा मन भी मारना पड़ता है।" आनन्द ने अखबार कपड़े की तरह समेटकर एक ओर फेंक दिया और सीधा तनकर सामने चाय की मेज़ की ओर झुकते हुए बोला—"जाओ ज़िद नही करते है। पिक्चर अच्छी है। मन लग जायगा। चैस्टर ले लेना। उधर से आने में ठंड हो जायगी।"

"अच्छी नहीं है।" ठिनगकर रश्मि ने कहा—"मिसेज़ बत्रा कह रही थीं कि किसी काम की नहीं है। आप हो आइए।"

"मिसेज़ बत्रा की आँखों ने देखी भी हैं कभी पिक्चरें ? बड़ी आईं राय देने वहाँ से ! किसी काम की नहीं है !" मुर्गे के आकार के केटली के गर्म खोल को उतारकर एक ओर रखते हुए आनन्द भडक उठा—"बेकार सही, मैं कहता हूँ तुम्हें चलना पड़ेगा। एक भले आदमी से एपॉइण्टमेण्ट कर लिया है और बीबीजी के नखरे ही नहीं मिल रहे ! बेचारे ने पास का इतज़ाम किया होगा, गाडी लेकर आयेगा, और आपसे यहाँ से निकला तक न जायगा।"

हाथ का काम रोककर एक बार रश्मि ने उधर देखा और जब वह ज़रा चुप हुआ तो बड़े डरते हुए बोली—"मेरी तरफ से एपॉइण्टमेण्ट करते वक्त ज़रा पूछ ही लेते फोन से।"

क्रोध के मारे सिगरेट को बुरी तरह ऐश ट्रे में ठूँसते हुए आनन्द ने कहा—"फिर वही अपनी ज़िद ! उस दिन साइकिल वाली बात की तरह आज फिर···।"

अभी तक रश्मि ज़रा चुप थी, दब रही थी। अब एकदम तेज़ स्वर में बोली—"साइकिल-साइकिल ! मैंने बीस बार कह दिया, मुझे नहीं सीखनी साइकिल ! फिर क्यों मेरे पीछे पड़े हो ? कॉलेज जाती थी तब तो सीखी नहीं, अब सीखूँगी ?" विद्रूप होकर उसने ज़ोर से सिर झटका और उसकी आँखों में आँसू छलछला आएँ।

"एक चीज सीख जाग्रोगी तो क्या बुरा है ?" हालाँकि रश्मि की इस बेकार की जिद से गुस्सा तो ग्रानन्द को काफी ग्रा गया था, लेकिन ग्राँसू देखकर वह सहम गया। "ग्रभी थडानी ग्राता होगा ग्रौर उसके सामने वह सब बखेड़ा ग्रच्छा नहीं लगता।"

"मुझे नहीं सीखनी, ग्राखिर कोई बात भी हो कि एक दिन उसने कह दिया कि ग्राज की हर लडकी को साइकिल बडी जरूरी चीज है। ग्रब दिन-रात मेरे पीछे पडे है। कल कह देगा खेत जोतना ग्रच्छा है। बस, मैं वह शुरू कर दूँ—मेरी ग्रपनी कोई इच्छा ही नही है ?"

"लोग रोते है कि जो कुछ वे करना चाहते हैं उसके लिए सुविधा नहीं मिलती। यहाँ उसने इतनी बढिया साइकिल लाकर पटक दी है ग्रौर मेम साहब के मन को ही नहीं भाती।"

"ग्रच्छा मुझे बताइए, ग्रच्छी लगूँगी मैं ग्रब साइकिल चढती ? ग्रौर मुझे ग्राखिर जाना कहाँ है ? दफ्तर जाना नही, पढ़ने जाना नही। मैंने तो उससे नहीं कहा था कि तू साइकिल पटक जा। ग्रौर साफ सुन लीजिए, मुझे ग्राप लोगों की पिकनिक-विकनिक में कहीं नही जाना··· ग्रापको जहाँ जाना हो—क्लब, पिकनिक, सभा, सोसायटी—वहाँ शौक से जाइए। मैं दोनो हाथ जोड़ती हूँ, मुझे माफ़ करो बाबा, मैंने तो सब-कुछ भर पाया।" ग्रौर ज़ोर से रश्मि ने इस तरह दोनों हाथ जोड़े कि कलाइयों की चूडियाँ बुरी तरह झनक गईं। वह तेज़ी से दूसरे कमरे मे जाते-जाते दरवाज़े पर परदा पकडकर रुक गई ग्रौर एकदम घूमकर बोली—"ग्रौर ऐसा ही शौक है तो ड्राइविंग सिखाइए न, देखें कितनी हिम्मत है ?"

तभी ग्रभ्यासवश हाथ बढाकर दरवाज़े के एक ग्रोर लगी हुई घण्टी बज़ाते हुए थडानी ने प्रवेश किया। हँसकर बोला—"ड्राइविंग की क्या बात कह रही हैं भाभीजी ?"

"बड़ी देर लगा दी! तमाम चाय ठंडी हो गई।" ग्रानन्द का ग्रपना प्याला बन चुका था। वह उत्तेजना शान्त करने के लिए प्याले

में चीनी चलाते हुए सिर हिलाकर बोला—"असल में एक चीज पर निगाह पड़ गई। मैंने कहा अब इसे लेता ही चलूँ।" थडानी रश्मि की ओर देखता आनन्द की ओर बढ़ा। परिस्थिति भाँपने के लिए एक बार रश्मि और एक बार आनन्द को देख अपने चौड़े हरे मर्करी काँच के चश्मे की पतली-सुनहली कमानी मुट्ठी मे पकड़कर चश्मा घुमाते हुए आनन्द के पास आ बैठा। दूसरा प्याला प्लेट मे सीधा करते हुए उसने पूछा—"ड्राइविंग की क्या बात हो रही थी?" आनन्द ताजे कटे हुए सेबों की प्लेट थडानी की ओर खिसकाकर, उसके कप मे चाय डालने लगा। दूध डालता हुआ बोला—"कह रही थी, क्या साइकिल सिखलाते हो! हिम्मत हो तो ड्राइविंग सिखाओ।"

"बस!" थडानी ने अपने स्वर से तुच्छता का भाव प्रकट किया। अपनी बाँहें झटककर विचित्र भाव दिखलाया। "अरे कोई और बड़ी बात कही होती! भाभीजी ने भी भई क्या बात कही है? ड्राइविंग कोई ऐसी अलभ्य चीज़ है? ज़्यादा-से-ज़्यादा कार दस हज़ार की आ जायगी। चलो तो फिर आज 'ताराचन्द झाऊमल' के यहाँ यही काम खत्म किया जाय। मारो गोली सिनेमा को। वह फिर कभी सही!···भाभीजी, आप तो तैयार भी नहीं···"

"अरे पागल हुए हो! मुझे जिंदा रहने दोगे या नहीं? वैसे ही लोग कानाफूसी करते है कि पता नहीं थडानी क्यों आनन्द का घर भर रहा है। दो-चार ठेके और मिल जायँगे।" और मुस्कराते हुए आनन्द ने बढ़िया सिगरेट का डिब्बा खोलकर एक सिगरेट ज़रा आगे खींचकर थडानी की ओर बढ़ा दी।

"अजब बात करते हो।" एक ही घूँट में ठण्डी चाय का आधा प्याला पी गया और सिगरेट लेते हुए आँखें तरेरकर बोला—"इंजीनियर के यहाँ कार होना कोई ऐसी अनोखी बात है? और भरने का क्या, किसी के बाप का तो नहीं भरता?"

"नहीं यार, फिर भी नये इजीनियर के यहाँ का यह सब ठाठ-बाट

लोगों की निगाहों में खटकता ही है। वैसे ही तुम्हारा चार-पाँच हजार सिर पर चढ गया है। यह सब कहाँ से दूँगा ? मुझे तो रात में नीद नही आती।"

"पार्टनर, यही सब बाते सुनकर मेरे तन-बदन मे आग लग जाती है। मैंने कभी इस तरह की कोई बात कही ? मै अब आगे इस घर मे कदम नही रखूँगा।" थडानी ने काफ़ी ऊँचे स्वर में उत्तेजित होकर कहा—"घर पडे-पडे इस रुपये का क्या होता ? बन्दा सबकी शराब पी जाता···।"

कृतज्ञता के भाव से मुस्कराकर जैसे उसे मनाते हुए आनन्द ने बिस्कुटो वाली प्लेट उसकी ओर बढाकर कहा—"मेरा मतलब कहने का यह था कि बेकार पैसे क्यो फेंकते हो ? वॉयलिन ले आये थे, वह पता नही कहाँ पड़ा है, अब साइकिल लाकर डाल दी। तुम जानते हो वह नहीं सीखेगी।" फिर आवाज़ दी—"पहाड़ी, चाय का पानी दे जाओ।"

"अरे सब सीखेंगी, सीखेगी कैसे नही, ड्राइविंग सीखेंगी, सायकिलिग सीखेंगी—सब।" और रश्मि को सुनाकर कहा—"मैं बिलकुल मेम साहब बना दूँगा। देखिए भाभी ! क्या लाया हूँ ?" उसने एक ओर झुककर जेब से एक नीले मखमल की डिबिया निकालकर कहा—"आपका नाम 'र' से शुरू होता है न ? 'र' वालों के लिए हीरा बहुत ही शुभ माना गया है। ड्राइविंग में किसी बात का खतरा नहीं रहेगा···"

रश्मि परदा पकड़े ही सुन रही थी, अब उसे छोड़कर वह अन्दर चली गई।

"नाराज़ है।" बहुत धीरे से आनन्द ने बताया और प्रशंसा और कृतज्ञता-मिश्रित निगाहों से छोटे-छोटे हीरो जड़ी सुन्दर अँगूठी को हाथ में लेकर देखने लगा। उसे देखकर उसकी तबियत तो प्रसन्न हो गई थी, लेकिन चिन्ता के स्वर में पूछा—"कितने की है ?"

"छोड़ो।" थडानी ने हाथ बढ़ाकर अँगूठी छीन ली—"तुम्हारी किस्मत में यह सब नहीं है।"

"रश्मि, देखो तो।" आनन्द ने बेशरमी से मुस्कराते हुए दरवाज़े की तरफ इशारा करके कहा—"भीतर है, वहीं पहना दो।"

थडानी उठ खड़ा हुआ और घूमकर कमरे के दरवाजे की ओर बढ़ा।

"ज़रा जल्दी तैयार होने को कह देना।" पीछे से आनन्द ने कहा। वह एक बड़े-से बिस्कुट को दोनों हाथों से पकड़कर धीरे-धीरे कुतरने लगा। और बस इसी बात से रश्मि कुढ जाती है। रश्मि को थडानी ज़रा भी अच्छा नहीं लगता, और आनन्द है कि हर समय उसे बीच में लाकर खड़ा कर देता है। वह जल्दी से दरवाज़े से हट गई। एकदम पूरा जूड़ा खोल डाला और सीधे ड्रेसिंग टेबल के सामने जाकर खड़ी हो गई। पीछे से घुमाकर सारे बाल सामने कर लिए और उन्हें एक हथेली पर फैलाकर दूसरे हाथ के कंघे से बालों पर जोर-ज़ोर से प्रहार कर उन्हें इस प्रकार सुलझाने लगी मानों रुई धुन रही हो। ज़ोर के सर्राटे के साथ कंघा बालों में तैरता, कभी-कभी एकाध चिनगारी फूटती और टूटे हुए बालों का गुच्छा कंघे में उलझ-रहता। अनजाने ही उसके होंठ कस गए। कंघा उठाते हुए उसने शीशे में देख लिया कि थडानी भीतर आ रहा है।

"भाभी, यह क्या आदत है आपकी ? जल्दी तैयार हो जाइए न !"

रश्मि को अपनी भौंहें ढीली करनी पड़ीं, होंठों की ऐंठन में मुस्कान भरनी पड़ी। उसने मुड़कर कहा—"सच कहती हूँ थडानी साहब, मेरा मन जाने को ज़रा भी नहीं है। आप लोग हो आइए न ?"

"ड्राइविंग सीखने को कह रही थीं न, चलिए चलते हुए किसी अच्छी गाड़ी का नया मॉडल देखते चलेंगे। जल्दी कीजिए, अब यों सुस्ती का काम नहीं है।" बिना उसे जवाब देने का मौका दिये हुए थडानी कहता गया, और बिलकुल पास जाकर ड्रैसिंग-टेबल की ज़रा-सी खुली दराज पर एक पाँव रखकर बोला—"आपको पता है, आपकी राशि पर हीरा है ? देखिए आज मुझे यह चीज बहुत पसन्द आ गई···।"

रश्मि पीछे हट गई। सबसे ज़्यादा झुंझलाहट उसे इस आनन्द पर आ रही थी। क्यों इतना सिर चढ़ा रखा है इस लफंगे को ? आये हो, ड्राइंग-रूम में बैठो। उसके मन में हुआ ज़ोर से डाँटकर बाहर भगा दे। लेकिन उसने प्रशंसापूर्ण नेत्रों से डिब्बी की ओर देखते हुए अनजान बनकर पूछा—"किसके लिए ? रानी के लिए लाये हो ?" रानी थडानी की बहन है। "बता तो रहा हूँ, आपकी राशि पर हीरा है। देखिए कैसी लगती है ?" और थडानी ने अँगूठी इस तरह उठाई कि रश्मि अपनी उँगली उधर बढ़ा दे। रश्मि को अपने पर नियंत्रण अब असह्य लगा। हाथ के कंघे को उसने मुट्ठी मे कसकर पकड़ लिया। गम्भीर भाव से हथेली फैला दी कि रख दो।

"उँह !" हाथ हिलाकर थडानी ने इस तरह कहा जैसे पहनना हो तो उँगली में पहनो।

रश्मि का हाथ एक क्षण असमंजस में यों ही रहा। उसने बड़ी तीखी नज़रों से एक क्षण को थडानी के मुस्कराते चेहरे को देखा, लापरवाही से, लेकिन सावधानी से बिखरे हुए रूखे-सुनहले बालों को देखा, उसके छिदे कानों को देखा, शायद बचपन मे उसे कीलें पहनाई गई थीं, और फिर एकदम हाथ खीचकर अत्यन्त व्यस्तता से उसकी ओर से जैसे बिलकुल तटस्थ होकर कंघा चलाने लगी। अपने मुख पर उभर आए भावों को उसने छिपाने की ज़रा भी ज़रूरत न समझी।

थडानी थोड़ी देर देखता रहा और फिर छत की ओर मुँह कर ज़ोर से खिलखिला पड़ा। उसने डिबिया नीचे मेज़ पर रख दी और ड्राइंग-रूम में आ गया।

बाहर आनन्द, सामने की दीवार पर टँगे एक रेगिस्तान का चित्र देखता हुआ, खड़े-खड़े टाई की गाँठ को ठीक कर रहा था।

कंघा ज़ोर से मेज़ पर पटककर रश्मि इतनी ज़ोर से पलंग पर जा गिरी कि पलंग की कमानियो ने दो-तीन बार उसे उछाल दिया।

× × ×

अँधेरे और सन्नाटे में खर-खर करती चमकदार तस्वीरों वाली रील चलती रही, और रश्मि आँखें फाड़े भीतर भुनती रही। गोद में रखे पर्स की घुंडियों को वह ज़ोर से मरोड़कर कभी पर्स खोल देती, कभी बन्द कर देती। साफ़ बात है, उसे यह आदमी ज़रा भी पसन्द नहीं है। लेकिन आनन्द है कि······उसे ऐसा लगता है जैसे उसके 'भाभी' सम्बोधन में ही कहीं कुछ ऐसा है जो उसे सिहरा देता है। उसकी हर निगाह जैसे उसे तोलती है। रश्मि इस सबकी अभ्यस्त नहीं है। वह हृदय से इसे नापसन्द करती है लेकिन···लेकिन इसके एहसान···फिर भी कैसे आनन्द इतना अन्धा हो गया है···वह यह सब नहीं देखता? थडानी की निगाहें नहीं देखता? फिर भी···कैसा उसने जादू कर दिया है?

सचमुच कल सुबह से तो वह बहुत अधिक उद्विग्न हो उठी। धोबी के कपड़े देने के लिए जब वह आनन्द की पैण्ट से बकसुए निकाल रही थी तो काग़ज़ का एक परचा भी जेब में मिला, बुरी तरह मुड़ा था जैसे मुट्ठी में कस-कसकर मोड़ा गया हो। खोलकर यो ही देखा, किसी होटल का बिल था—'ह्विस्की एक बोतल'। पेन्सिल से घसीट में लिखा था। वह इस तरह चौंक गई जैसे हाथ में सहसा अंगार आ गया हो। हूँ, तो यह होता है रात को दो-दो बजे तक!···यह थडानी कम्बख्त! अब उसकी समझ में आ गया, आनन्द के गालों की उभरी हड्डियों पर काले-काले दाग़ क्यों हैं।

बड़ी देर आँखें फाड़े वह शून्य में ताकती रही और फिर एक बड़ी गहरी साँस लेकर रो पड़ी। शनिग्रह की तरह यह थडानी आनन्द के पीछे पड़ा है। दोनों भाड़ में जायँ! वह लेकिन उसे क्यों घसीटता है? ज़रा-सी साइकिल के पीछे कितनी कहा-सुनी हो गई थी उस दिन!··· थडानी ने कहीं कह दिया था, "चलो आनन्द, चार-छः दिन को कहीं साइकिल पर घूम आयें, लम्बे चलो। ज़रा शूटिंग-आउटिंग का मज़ा रहेगा। भाभी को भी ले लो।"

"वे तो बाइसिकल पर चढ़ना जानती ही नहीं?" झिझककर

आनन्द ने आपत्ति की थी।

"भाभी साइकिल चलाना नहीं जानतीं ?" थडानी इस तरह विस्मय से बोला था जैसे कोई आश्चर्य की बात सुन रहा हो, "कैसे कॉलेज में पढ़ी है ?" फिर खुद ही बोला था—"तो सीख लेंगी। मेरे यहाँ एक पड़ी है बिलकुल नई। सिस्टर के लिए लाया था, तुम्हारे यहाँ भेज दूंगा।"

और जिस दिन उसका नौकर साइकिल, बिलकुल नई चमचमाती साइकिल दे गया था, उस दिन पति-पत्नी में ज़ोर का महाभारत हुआ। सामने आँखें गड़ाए वह एक-एक बात को दिमाग में घोंटती रही।

दोनों में दो दिन तक अनबोलाचाली रही थी। लेकिन इस बीच में भी रश्मि को लगा था जैसे मन-ही-मन आनन्द भी उस बात को नापसन्द करता है, पर शायद थडानी को अप्रसन्न नहीं करना चाहता। अचानक भक से इण्टरवल हो गया और सिनेमा की बत्तियाँ चमचमा उठीं। वह चौंक पड़ी और आँखें मींजने लगी।

"कैसा लगा भाभी ?" थडानी ने पूछा। उसने इधर की तरफ मुँह करके सामने वाली सीट की पीठ पर कुहनी टेक ली।

"हाँ, अभी तक तो ठीक है।" रश्मि को पता ही नहीं था कि तस्वीर में क्या चल रहा है।

"अच्छा हाँ, ज़रा आप लोगों को कुछ ठंडा-गरम..." अचानक उसे याद आ गया। वह झटके से उठ खड़ा हुआ और दोनों के रोकने पर भी बाहर चला गया।

यहाँ बैरे घूम रहे थे और नीचे बड़ा शोर हो रहा था। "मैं बिलकुल साफ़ कहे देती हूँ, अँगूठी-वँगूठी मैं न लूंगी। फिर आप कहें कि आपके मित्र का अपमान हुआ।" चैस्टर के अस्तर की सिलाई में कोई डोरा टूट गया था, उसे खींचते हुए रश्मि ने कहा।

आनन्द ने सहसा कोई जवाब नहीं दिया, फिर बड़ी खुशामद के स्वर में बोला—"रश्मि, कभी-कभी तो तुम बिलकुल पागलों की-सी बातें करने लगती हो।"

"पागलपन की क्या बात है ? आपका दिमाग़ तो गया है चरने, सुन लीजिए सही बात ··" रश्मि उत्तेजना का घूँट भरकर पी गई—"उधार पर उधार करते जा रहे हैं, शर्म नहीं आती !"

"शर्म की बात तो तब हो जब मेरा देने का इरादा न हो। मैं उसकी एक-एक पाई चुका दूँगा।" रश्मि की इस बात से गुस्सा तो आनन्द को बहुत आया लेकिन आस-पास देखकर चुप हो गया। समझने के लिए बड़े नम्र स्वर में बोला—"तुम एक बात नहीं सोचतीं। उसे आखिर हमसे लालच क्या है ? बाप उसका लाखों का ठेकेदार है, ज़्यादा-से-ज़्यादा यही लालच होगा। फिर भी स्नेह तो देखा ही जाता है। नहीं तो नौकरी के चार महीने बाद ही यह फरनीचर, यह रेडियो, यह सब ठाठ-बाट आखिर कहाँ से आ जाता ? इतना सब करने पर भी यदि हम ठीक तरह से बोलें भी नहीं तो किसी का सिर तो फिरा नहीं है।" आनन्द ने हल्के से अपना हाथ रश्मि के पीछे सीट पर फैला दिया। पूछा—"कार तुम्हें कैसी लगी ? भई मेरा तो मन···।"

न चाहने पर भी रश्मि के गालों पर एक हल्की-सी चमक उभर आई, आँखों में स्निग्धता छा गई ··। तभी पीछे-पीछे बैरे से 'ट्रे' में कुछ सामान लिवाये हुए, अपनी सर्ज की पतलून की जेब में हाथ डाले और लम्बे डग भरता हुआ थडानी बीच की गैलरी से इधर मुड़ा···।

"तो क्या खाना यहीं होगा···?" आनन्द ने तकल्लुफ में कहा।

"शट् अप···" थडानी ने नकली क्रोध से उसे झिड़का।

"अच्छा है, मेरी मेहनत बच गई···।" रश्मि परिहास से बोली। उसके दाँत चमक उठे।

लेकिन जैसे ही दुबारा अँधेरा हुआ, फिर वही घुटन और अँधेरा उसके दिमाग़ में मँडराने लगा। सामने विज्ञापन चल रहे थे—क्रीम की शीशी, शृंगार के पुराने प्रसाधनों से उसकी तुलना···

साइकिल···हर हिस्सा मज़बूत है। अचानक रश्मि के दिमाग़ में संध्यावाला बैलगाड़ी का दृश्य आ गया···साथ चलता जोड़ा, आगे

बैल चलता है, उसके पीछे गाड़ी घसिटती है। अगला चलता है, पिछला घसिटता है। यह साइकिल है—यहाँ सामने आड़ करके पिछला अगले को ढकेलता है…और जोर से फिर एक पहिया उसके दिमाग़ में घूमने लगा और बराबर घूमता रहा।

तीन पत्र और आलपीन

तीन पत्र और आलपीन

पता नहीं यह कौनसा नियम है कि एक बार् जहाँ चोट लग जाती है, लाख बचाने पर भी चोट फिर-फिर वहीं लगती है !

आज ज़रा-सी असावधानी से फिर पिन वही चुभ गई जहाँ आज से कुछ समय पहले चुभ गई थी और चोट अभी तक ठीक नहीं हुई थी।

और असावधानी भी मैं इसे क्या कहूँ? कोई बात भी हो असावधानी की ! ज़रा-सी बात कि तीन पत्र एक आलपीन से नत्थी थे और वह आलपीन जैसे उन पत्रों से चिपके रहने से जंग खा गई थी। इन तीन पत्रों के अलावा उस आलपीन में कुछ और भी कागज् के कोरे टुकड़े इस तरह चिपके थे कि, अनायास ही लगता था, अवश्य ही कुछ और पत्र भी उससे बिंधे होंगे। जो बाद में फट गए या फाड़ डाले गए और अब उनके ज़रा-से टुकड़े चिपके रह गए हैं। बहरहाल मैं इतना जानता हूँ कि होश मुझे उस समय आया था जब इन पत्रों

और कागज़ के टुकड़ों से अलग करने के प्रयत्न में यह आलपीन टूट गई थी और उसका टूटा हिस्सा निर्दयतापूर्वक मेरी उँगली के पहले घाव में घुस गया था। तीनों पत्र धरती पर जा पड़े थे और दर्द से मैं कराह उठा था।

सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि उँगली में पहली चोट भी आलपीन से लगी थी। वह कैसे लगी एक बड़ा किस्सा है जो समय और धैर्य दोनों चाहता है। इस घटना और उस घटना में फ़र्क इतना है कि उस बार आलपीन चुभने से मैं बेहोश हो गया था, इस बार जैसे बुरी तरह चौंककर दर्द के सहारे किसी गहरे कुएँ में उतर गया हूँ। उस बार जो आलपीन चुभी तो उँगली पक गई, रात-भर जैसे कोई प्राणी खींचता रहा, ऐसी कसक मारती रही। सो नहीं सका। सुबह डॉक्टर को दिखाया तो बोला कि अभी ठीक से पका नहीं है, पकेगा तो ऑपरेशन होगा। और उसने ऐसी दवा बाँधी कि वह और पके···अब आप कल्पना कीजिए मेरे दर्द की! जब उसने दूसरे-तीसरे दिन चीरा तब जाकर आराम हुआ। और अब यह जैसे-तैसे ठीक होने आया तो ठीक उसी जगह यह चोट लग गई···ये कम्बख़्त आलपीनें···

संक्षेप में तो पहली बार बात यह थी कि मैं अत्यन्त व्यस्त भाव से एक लेख के कुछ पन्नों को एक जगह इकट्ठा करके पिन लगा रहा था कि अचानक रेडियो की ख़बर की तरफ ध्यान खुद ही चला गया। उफ़! कैसी मशीन की तरह एनाउन्सर ने यह बात कह दी थी—उसके स्वर में ज़रा भी कम्पन नहीं था, ज़रा भी गीलापन नहीं था, ज़रा भी··· कोई विशेष बात थी ही नहीं। उसी भावहीन स्वर में, जिसमें ज़रा देर पहले एक नये दियासलाई के कारखाने के खुलने की बात बताई थी, उसने कहा—"कल अपनी एक टुकड़ी के साथ घिर जाने पर बड़ी बहादुरी के साथ लड़ते हुए कैप्टन किशोर वर्मा वीर गति को प्राप्त हुए। आज उनका शव हवाई जहाज़ द्वारा श्रीनगर से दिल्ली लाया जा रहा है··"

"भैया···" मैं अचानक चीख उठा। सब घरवाले इकट्ठे हो गए। रोना-पीटना मच गया। जिस घर का पच्चीस वर्ष का जवान लड़का लड़ाई में यों मर गया हो, आप उसकी हालत सोचिए। घर से भी जब तार आ गया तो खबर पक्की हो गई। यह खबर पहले घर पहुँची थी, फिर घरवालों ने हमें तार दिया। मेरी आँखों में रेखा का आँसुओं से भीगा, बिखरे बालों वाला बेहाल चेहरा घूमता रहा, जो पिछले पाँच वर्ष से हठ किये बैठी थी कि शादी होगी तो किशोर भैया से, नहीं तो जीवन-भर कुमारी रहेगी। नर्स, टीचर कुछ भी बनकर वह रहेगी। अगले महीने भैया छुट्टी लेकर आने वाले थे और विवाह की प्रारम्भिक रस्में होने वाली थीं···अब···अब ! कागज़ नत्थी करता हुआ हाथ विवश हो गया, हाथ की आलपीन बुरी तरह उँगली में घुस गई। उसे मैंने निर्दयता से निकाल दिया था और खून को दबाकर रोक दिया, क्योंकि ऐसी खबर के सामने इस ज़रा-सी आलपीन चुभने का क्या महत्त्व ?

और उस बात को चार महीने होने आये। घर में इन दिनों कैसी मनहूसियत छाई रही कि बयान नहीं की जा सकती। हर समय ऐसा लगता जैसे अभी-अभी भैया की लाश को लोग जलाने ले गए हों। मनहूसियत कम होती गई और दिल के घाव की तरह उँगली का घाव भी पुरता गया। और आज या कल में यह घाव बिलकुल ठीक हो ही जाता, अगर यह पिन फिर ठीक उसी जगह न जा चुभती···

बात सिर्फ़ कल की है, लेकिन ऐसा लगता है जैसे उसी वातावरण में मैं वर्षों से रहा हूँ—रहूँगा; जैसे अब भी वहीं बैठा हूँ।

जिस स्थान पर मैं इस समय बैठा हूँ वह रेल के पुलिस स्टेशन का कमरा है। बाबूजी स्टेशन इंचार्ज हैं। गर्मियों की छुट्टियाँ हो गई हैं सो यहाँ आ गया हूँ। सुबह-शाम अब भी इच्छा होती है या जी ऊबता है तो मैं घूमने या रेल देखने के लिए यहाँ आ जाता हूँ। रेल आने के समय की प्लेटफॉर्म की हलचल, लोगों का उतरना-चढ़ना, तरह-तरह की आवाज़ें, इनमें आनन्द लेना मेरा शौक है। कभी पुल पर

खड़ा हो जाता हूँ तो नीचे से गुज़रती रेलें देखकर मन एक स्वर्गीय पुलक से भर उठता है। प्लेटफॉर्म पर घूमते-घूमते जब मन उकताया तो बाबूजी के दफ़्तर में आ जाता हूँ, किसी सिपाही से कह दिया—"एक कोल्ड ड्रिंक या चाय लाने को बैरा से बोल दो।" मज़े में पंखे के नीचे बैठकर एक-से-एक नई घटनाएँ सुनता हूँ—आज यह जेब काटते यों पकड़ा गया, ये स्त्री-पुरुष कहीं भागकर जा रहे थे, पाँच साल का फ़रार है। हाँ, दफ़्तर के बाहर प्लेटफार्म के नोटिस बोर्ड पर इनामी लोगों की फोटो और इतिहास देखना भी एक बड़ा रोचक विषय है। उफ़! दो घण्टे आप किसी भी थाने में बैठ जाइए, आपको ऐसा लगेगा जैसे संसार में पाप, हत्या, लूटमार, व्यभिचार के सिवा कुछ भी बचा ही नहीं है!

आज बाबूजी रात-भर यहीं रहे हैं। हालाँकि मुश्किल से दो कदम पर क्वार्टर है, लेकिन खाना यहीं मँगाया था। सुबह भी आठ बजे ही वरदी पहने खड़े-खड़े खाना खाया था। स्टेशन पर एक विचित्र ढंग की निस्तब्धता और एक विशेष ढंग की हलचल एक साथ ही देखी जा सकती थीं—जैसे सभी लोगों के दिल धसक गए हों, या ब्लॉटिंग पेपर लगाकर किसी ने चेहरे की सारी रौनक सोख ली हो। बात यह हुई कि कल शाम को छः बजे यहाँ से दूसरे-तीसरे स्टेशन के बीच—सत्रह मील—फिफ्टीन डाउन एक्सप्रेस और एक मालगाड़ी लड़ गई। जब दोनों तरफ़ से लाइन-क्लियर दिये जा चुके तब बाद में पता लगा कि दोनों एक ही पटरी पर चल दी हैं। गुड्स ट्रेन में मिलटरी की लारियाँ, ट्रक, पेट्रोल की टंकियाँ थीं। सुनते है ऐक्सप्रेस के अगले तीन डिब्बे तो जैसे एक-दूसरे मे घुस गए। डिब्बे चूर-चूर हो गए, इंजन नीचे जा गिरा। सुनते है इंजन के बाद दूसरा या तीसरा डिब्बा आर० एम० एस० का था, वरना पता नही कितने का नुकसान और होता। ट्रॉलियाँ, क्रेन, एम्बुलैंस, दर्शक और अधिकारी सभी पहुँच चुके थे। गार्ड हिरासत में था और ट्रेनगार्ड अस्पताल में बेहोश पड़ा था। अपने दोनों असिस्टेण्टों

और दूसरे सिपाहियों के साथ बाबूजी वहीं जमे थे। जितनी लाशें मिली थीं उनमें अभी दो की शिनाख्त नहीं हो पाई थी।

मैं स्वयं बड़ा उद्विग्न और उत्सुक था। सुबह ही बाबूजी के साथ स्टेशन पर आ गया था। आज स्टेशन के सारे अधिकारी वहीं गये हुए थे।

प्लेटफॉर्म पर घूम-फिरकर बाबूजी के दफ़्तर में आ गया। उनकी खाली कुरसी पर बैठकर पैर मेज़ के काँच पर फैला दिये। बगल के बन्द दरवाज़े की ओर मुँह करके पुकारा—"मुंशीजी !"

थाना एक तरह से खाली पड़ा था। उधर से आते समय देख आया था, जेल के मोटे सींखचों के पीछे एक गिरहकट बड़े आराम से बैठा बीड़ी पी रहा था। दरवाजे पर सन्तरी खड़ा था। उसने साफा उतारकर किवाड़ की चटखनी पर टाँग दिया था और बन्दूक एक तरफ़ टिकाकर बड़े आध्यात्मिक 'मूड' में हथेली पर अँगूठे से चूना-तम्बाकू मल रहा था। उसने एक हाथ से अपनी बाहर निकल आती चुटिया को ज़बरदस्ती अपनी चिकनी खोपड़ी पर साफे को घुमाकर भीतर करने की कोशिश करते हुए आकर पूछा—"भैयाजी, मुंशीजी तो ए० एस० एम० के दफ़्तर गये हैं, कुछ पूछकर टाइप कराने। शायद कोई आदमी वहाँ से लौटा हो। कुछ काम है क्या ?"

"और कोई नहीं है ?" मैंने पूछा।

"रामगुलाम है, वह ज़रा सुरती लेने गया है पान वाले तक, अभी आता होगा।"

"अच्छा, किसी कुली से कह दो, बैरा से एक बोतल कोका कोला को बोल दे।"

किवाड़ बन्द करके वह चला गया, तो सिर को कुरसी के पीछे वाले हिस्से से टिकाकर मैं ऊपर पंखे की घूमती हुई पंखड़ियों को देखने लगा। दो-चार मिनट बाद यों ही बाएँ हाथ से बाईं ओर वाली दराज़ खोल डाली। उसमें कागज़ भरे थे। बिना देखे ही हाथ से टटोलकर

एक लिफाफ़े जैसा कागज़ उठा लिया। सामने की ओर लाकर अधखुली आँखों से देखा, पीला बादामी-सा कागज का लिफाफ़ा था, उस पर बाबूजी के हाथ की लिखावट में लिखा था—"उसकी जेब में पाये गए।" ख़तों से चौंककर सीधा हुआ—किसकी ? झुककर दो-एक लिफाफ़े और देखे, जिन दो लाशों की शिनाख्त नहीं हो पाई है इन्हीं में से किसी की जेब में ये खत पाये गए थे।

फ़ौरन लिफ़ाफ़े में से काग़ज़ निकाले। पत्र चार मोड़ में थे। गन्दे किनारों और तह के निशानों से पता चलता था कि काफी दिनों उसकी जेब में रखे रहे थे, और ये तीनों ही उस ज़ंग-लगी आलपीन से नत्थी थे। इसके साथ ही काग़ज के कुछ फटे कोने भी थे—उन पत्रों के अवशेष, जो इसी पिन से बिंधे होंगे। यह असम्भव था कि ऐसी हालत में पाये गए उन पत्रों को मैं न पढता।

सामने ही पत्र पर निगाह पड़ी—

डियर दोस्त,

जब से सुना है कुछ अजब पसोपेश में हूँ। विश्वास नहीं होता। न कोई चिट्ठी, न समाचार, तुम्हें आखिर हो क्या गया कि यों भाग खड़े हुए ? न किसी से कुछ कहना न सुनना। ज़रा-सा हिंट तो दिया होता मेरे यार ! छुट्टियों में जब अचानक घर गया तो तुमसे मिलने भी पहुँचा। बाबूजी ने जब बताया तो सच जानो मेरे ऊपर तो जैसे आसमान टूटा। चार-पाँच महीने से तुम्हारा कोई पता नहीं है, बाबूजी से पता चला।

तुमसे तो, सच मानो, इस तरह की ज़रा भी उम्मीद नहीं थी कि यों घर छोड़कर भाग खड़े होगे। मुझे आश्चर्य है कि तुम्हारे जैसा आदमी कैसे ज़िन्दगी के संघर्षों से घबराकर भाग गया ? कॉलेज का सबसे गम्भीर-प्रतिभाशाली विद्यार्थी ! दूसरे लडके जिसका दिन-रात ज़िक्र करते थे; प्रोफ़ेसर क्लास में हमेशा डरता था कि कहीं कुछ ग़लत न कर जाय, आँख हमेशा सतर्क रहती थी। प्रशंसा और मुग्ध भाव से लड़कियाँ

जिसे हमेशा छिपी नजरों से देखा करती थीं—जो हमेशा क्लास में फर्स्ट आया, उसे आखिर हो क्या गया ?

घर छोड़ने से पहले तुम्हारी मानसिक स्थिति का अन्दाज़ मैं तुम्हारे बाबूजी के वर्णन से लगाता हूँ। यह समझकर कि तुम मेरे पास अवश्य आये होगे या कम-से-कम मैं तुम्हारा पता ज़रूर जानता होऊँगा, तुम्हारे बाबूजी ने साथ वाला पत्र मेरे पास भेजा था कि मैं उचित पते पर भेज दूँ। बाबूजी ने एक पत्र मुझे भी लिखा कि मैं तुम्हें समझा-बुझाकर लौटा दूँ। इस तरह के झगड़े तो घरों में होते ही रहते है। और भाई, दिल से कौन चाहता है कि यों चख-चख हो। जब आदमी विवश हो जाता है तभी तो यह स्थिति उत्पन्न होती है। उनकी शिकायत यह भी है कि तुममें यह परिवर्तन या ग़ैर-ज़िम्मेदारी की भावना शादी के बाद से आई है, इससे पहले तो तुम एक आदर्श पुत्र थे। वह लड़की देखने में तो सीधी-सादी लगती है लेकिन भीतर से ऐसी काट करने वाली होगी, इसकी कौन कल्पना कर सकता था ! स्वभाव तो किसी के चेहरे पर लिखा नहीं रहता, सब जानते ही जान पाते हैं। उनके दिल में तुम्हारी तरफ से कोई दुर्भावना नहीं है। इस कहने-सुनने को भूलकर तुम्हें चाहिए कि लौट आओ।

हो सकता है बहुत सी बातें तुम्हारे बाबूजी ने अपने दृष्टिकोण से देखी हों। लेकिन इसमें जो सत्य है उससे कैसे इन्कार करूँ ? तुम यों, कायर की तरह संसार के संघर्षों से मुँह छिपाकर भाग जाओगे, इसकी तो मैंने कल्पना भी नहीं की थी। मैं जानता हूँ आज जैसी निराशा और बेकारी कभी नहीं आई। शायद इतनी संख्या में पढ़े-लिखे बेकार कहीं भी नहीं हैं। अपनी एक घटना याद आती है। मलाबार में मुझे रास्ता पूछना था एक सड़क का। एक जगह से सड़क दो तरफ को जाती थी, वहाँ कोई बोर्ड नहीं था। मैं राह देखने लगा कि कोई आये और मैं उससे पूछूँ। अचानक दो पढ़े-लिखे शिक्षित-से व्यक्ति आते दिखाई दिए। मैंने पूछा—"अलप्पी का रास्ता किधर से जाता है ?" वे दोनों

बुरी तरह हाथ झटककर चले गए। अर्थ था—हमें नहीं मालूम, हमसे मत बोलो ! मुझे उनके व्यवहार पर बड़ा आश्चर्य हुआ। पढ़े-लिखे शिष्ट आदमी ! लगभग आधे फर्लांग जाकर न जाने क्या सोचकर वे लौटे, पूछा—"किधर का रास्ता आपने पूछा ?" मैंने बताया तो बोले—"आप नये आदमी मालूम होते है।" मैंने सोचा, अजब आदमी मालूम होते हैं। उनके इस व्यबहार का कारण पूछा, तो बोले—"यहाँ की स्थिति से विवश होकर हमे यह व्यवहार करना पड़ता है। लोग इस तरह बातचीत करने का बहाना ढूँढते हैं, फिर झट अपनी बेकसी का रोना लेकर सहायता की भीख माँगने लगते है !" यह स्थिति उस जगह की है, जहाँ भारतवर्ष में सबसे अधिक अर्थात् पचहत्तर प्रतिशत शिक्षा है।

और नेता लोग रोना रोते है कि हम यह कर रहे है, हम वह कर रहे हैं। उनसे कुछ नहीं होता तो न सही, लेकिन ये उल्ट-सीधी बातें बककर हमे चिढ़ाये तो नहीं ! और एक तुम हो, जब कि इस समय सगठित प्रयत्न की ज़रूरत थी, यों घर से भागकर चले गए हो !

तरह-तरह के अनुमान मैने तुम्हारे विषय में लगाए है। उन्हीं में से एक अनुमान के आधार पर यह पत्र तुम्हें भेज रहा हूँ। वैसे मैं जानता हूँ कि धर्म का ढोंग तुम्हें पसन्द नहीं रहा। इसलिए यह प्रश्न ही नही उठता कि तुम साधु-संन्यासी बनकर निकल गए होंगे। डाकू बनकर तुम निकल नही सकते, हालाँकि आज के ज़माने में लीडर बनने का इससे अच्छा कोई दूसरा तरीका है ही नहीं। (कल के डाकू आज के रहनुमा हैं !) न इन लीडरों को सबक देने का इससे अच्छा कोई तरीका है ! फिर तुम किस उद्देश्य को सामने रखकर निकल गए हो, समझ में नहीं आता। हो सकता है निरुद्देश्य ही निकल गए हो, लेकिन यह निरुद्देश्यता आखिर तुम्हें ले कहाँ गई हैं ? कुछ तो पता चले !

घरवालों की बात घरवालों पर छोड़ो, लेकिन मुझे तो लिखो कि मैं तुम्हारी क्या मदद कर सकता हूँ ? अगर उचित समझो तो मिलो।

शायद कोई हल हम लोग बैठकर सोच सकें !

तुम्हारा,
नवीन

पत्र खत्म करके ऊपर सिर किया तो लड़का कोकाकोला की झागदार बोतल लिये खडा था। इशारे से कहा—रख दे और चला जाय। वह चुपचाप चला गया, मैंने दूसरा पत्र पढा—

प्रिय बेटा,

पड़ोस के रग्घू ने सलाह दी है कि तुम्हारे दोस्त के पते से मैं लिखूं, इस पर भी लिखकर देख रहा हूँ। जहाँ-जहाँ उम्मीदें थीं, पच्चीस-तीस खत तुम्हें डाल चुका हूँ। हफ्तों अखबारों में निकलवाया। अब निराश होकर बैठ जाने के सिवा और कोई चारा नहीं है। फिर भी बाप का दिल है, नहीं मानता। सोचा एक खत और सही। अगर मिल जाय तो यह तो लिख दो कि जहां हो कुशल से हो। हम लोगों को सन्तोष हो जाय। वैसे, जब जोश था तो जिसने जो कहा, किया। फोटो निकलवाये, खत डाले; जहाँ पता लगा, भागा गया। देवी-देवता मनाये और ज्योतिषी-पंडित पूछे। अब तो सब रास्ते खत्म हो गए हैं, हारकर भाग्य के भरोसे बैठ गया हूँ।

अब मै सोचता हूँ कि पत्रों और फोटो से ही तुम्हें लौटना होता, तो तुम यों बिना कहे-सुने चल क्यों देते ? ठीक है बेटा, सब अपना-अपना वक्त है। पढ़ा-लिखाकर, खिला-पिलाकर बड़ा कर दिया; किसी लायक बना दिया। तुम्हीं अब हमें आँख नहीं दिखाओगे तो कौन दिखायेगा ? सन्तोष करने को चार लड़के और हैं, तीन लड़कियाँ हैं। तुम्हारे ही न रहने से कुछ बनता-बिगड़ता थोड़े ही है, लेकिन उस कम्बख्त औरत को कौन समझाए ! ओछी जात ! सिर देहली पर दे मारा है। खूब मोटे-मोटे गुमटे उठ आए है। छाती में घूंसे मार-मारकर नील डाल ली हैं, तभी से आधी पागल हो गई है। पड़ी है खाट पर। रो-रोकर आँखें सुजा ली हैं, खराब कर ली हैं। मैं तो परेशान हो गया हूँ इस

ज़िन्दगी से। किसी दिन तोले-भर अफ़ीम खाकर सो रहूँगा, सब चक्कर मिट जायगा। सारा घर अपने-अपने रास्ते जाना चाहता है, समेटते-समेटते ज़िन्दगी बीत गई ! अपना खून-पसीना देकर उसे बनाया, अपनी सारी जवानी झोंक दी—किसी की समझ मे ही नही आता कुछ। बेज़ार हो गया हूँ अपनी इस ज़िन्दगी से। ऐसा ही रहा तो किसी दिन रेल से कट मरूँगा, या छाती से पत्थर बाँधकर जमुना मे डूब मरूँगा। भाड़ में जाय सब। ज़रा सोचकर रह जाता हूँ, छोटे-छोटे लड़के हैं; सयानी-सयानी लड़कियाँ है। क्या होगा इन सबका मेरे बाद में ! गृहस्थी कुछ ठीक-ठौर पर चलने लगे तो मै सन्यास लेकर निकल जाऊँगा कही।

तुमसे बड़ी-बड़ी आशाएँ थी बेटा ! बुढापे में सहारा दोगे; बिखरती गृहस्थी को सँभालोगे; छोटे भाई-बहनों को ठिकाने पर लगाओगे और ज़िन्दगी-भर कोल्हू के बैल की तरह जुटे हुए हम बूढ़े-बुढ़ियो को कुछ शान्ति की साँस मिलेगी। लेकिन खैर, तुम्हें जो ठीक लगा सो तुमने किया। मैं क्या कहूँ, लेकिन घर के झंझटों से ऊबकर मै भी कहीं चला जाता, तो तुम इतने बड़े नही हो जाते। मुझे तुम्ही बताओ ! और बेटा-बेटी होते काहे के लिए है ? आज हमारी ज़रा-सी बात सुनने में तुम्हारी इज्ज़त उतरती है, तुम्हारी बहू का अपमान होता है—तब तुम्हे मान-अपमान और इज्ज़त उतरती नही लगी, जब रात-रात-भर माँ गोद मे लिये बैठी रहती थी, ज़रा-सा बुखार हो जाता तो हफ़्तों नहीं सोती थी ! उस वक्त तुम्हारी बहू नही आई, जब हम डॉक्टरों के हाथ जोड़ते थे, वैद्यों की खुशामद करते थे। आज ज़रा-सी बात से घर मे महाभारत मच जाता है।

और मुझे बताओ, गृहस्थी का यह कलह किस घर में नहीं है ? भाई, जहाँ चार बरतन होते है, खटकते ही है। इनके लिए कोई यों घर छोड़कर चल देता है ? फिर मेरी समझ मे नही आता, तुमसे किसी ने कहा क्या है ? एम० ए० तक जैसे हिम्मत थी, पढ़ाया। अब अगर यह पूछते है कि नौकरी मिली तो क्या बुरा करते हैं ? और तुमसे कब सहारे

की आशा करें ? आखिर तुम्हें नौकरी के लिए और किस क्लास तक पढ़ाया जाय ? 'नौकरी नहीं मिली, नौकरी नहीं मिली' सुनते-सुनते तो परेशान हो गए। आदमी कोशिश करे तो कैसे नौकरी नहीं मिले ! लेकिन जब मुफ़्त का, बिना हाथ-पैर हिलाए खाना मिले, तो ज़रूरत क्या किसी को ? बाप है, ज़िन्दगी-भर खिलाया और खिलायेगा। चोरी करे, भीख माँगे, लेकिन तुम्हे तो खिलायेगा ही, कही से लाकर खिलाये। कभी इन बूढी हड्डियों पर भी दया की होती बेटा ! ज़िन्दगी-भर क्लर्की करके यह कमा लिया, यही क्या थोड़ा है ? अब किस-किसको करूँ ? तुम सबसे बड़े हो, तुम्हें पढ़ा दिया। समझा, तुम अपने से छोटों को पढ़ा लोगे, सँभाल लोगे। सब मिलकर अपनी बहनो को देख-दाख लेगे। लेकिन भगवान् की मरज़ी।

तुम पाँच भाई हो, लाख लड़ोगे-झगड़ोगे, पर हो तो एक ही ख़ून से। ख़ून का जोश रुकेगा कहाँ ? लेकिन भैया, वह नई जो आई है, उसे तुम्हारे ख़ून और मुहब्बत से क्या मतलब ? उसे तो अपनी पड़ी है। शादी इसलिए की कि घर मे एक बहू आ जायगी, बुढ़िया को आराम हो जायगा। गृहस्थी को देखने-भालने वाला एक हो जायगा। सब स्कूल कालेज जाने वाले बच्चे हैं; बुढापे की उम्र में भी तुम्हारी माँ चार बजे से ही काम में लगी रहे, यह देखा नही जाता था। हमें यह थोड़े ही मालूम था कि घर में बहू लाना गुड़हल का फूल और सेह का काँटा लाना हो जायगा। दिन-रात की चख-चख ! बुढ़ापे मे दिमाग़ ठीक नहीं रहता, मैं भी तेज़ हो जाता था। तुम बुरा मानकर उसका पक्ष लेकर लड़ने तो लगते थे, लेकिन सच मानो, न जाने कैसा तुम्हारी बहू का स्वभाव है, घर में किसी से भी तो नही बनती। किसी से भी बनती होती तो, चलो हटाओ, सोच लेते कि हमी लोगों का स्वभाव ख़राब है। वह तभी से अपने घर है। एक ख़त भी नहीं डाला।

अब मैं सब क्या रोना रोऊँ ? और रोने से फ़ायदा भी क्या है ? केवल मेरे रोने से तुम पिघल ही जाते, तो यहाँ चुपचाप घर वालों से,

पड़ोसियों से आकर पूछ जाओ, कितना रोया हूँ ? भाग्य में ही रोना बदा है तो दूसरा कोई क्या करेगा ? अब तो अचानक कभी-कभी रोते-रोते लगता है कि शायद तुम आकर आँसू पोंछोगे, शायद तुम आकर मुझसे लिपट जाओगे।

बेटा, मैं तुम्हें कैसे विश्वास दिलाऊँ कि मै सिर्फ़ एक तुम्हें चाहता हूँ। तुमसे मैंने अपनी गृहस्थी शुरू की थी, और सब तो बाद की भरती है, मुझे उससे कोई प्रेम नही है। दिन-रात मन को समझाता हूँ कि तुम, ईश्वर न चाहे, मर ही जाते तो भी तो मैं सन्तोष करता ही। पर एक कील की तरह तुम्हारा चेहरा रात-दिन दिल में चुभता रहता है।

तुम नही आना चाहते, न सही; पर एक बैरंग पोस्टकार्ड मे यह तो लिख दो—तुम सुखी हो, खुश हो ! बहनें रोती हैं, भाई बिलखते है, माँ मरी जा रही है और बाप पागल हो गया है, सबको धीरज तो बँध जायगा कि तुम आनन्द से हो। कुछ नहीं तो यह तो लिख दो कि चिट्ठी तुम्हें मिल गई है। और क्या कहूँ ?

तुम्हारा अभागा—बाप

पत्र पढ़कर दिल पिघल उठा, सूनी आँखो से उसे देखता रहा···

"भैयाजी, मुझे बुलाया था ?" टाइप किया हुआ कागज़ लिये मुन्शीजी ने अचानक दरवाज़ा खोलकर पूछा।

मैं चौंका। ज़रा गला साफ़ करके कहा—"नहीं, हो गया काम अब तो।" और मैं अपने-आप में खो गया—बात करने की स्पष्ट अनिच्छा दिखाता हुआ। मुन्शीजी थोड़ी देर खड़े रहे, फिर मेरी मेज़ पर वह टाइप किया हुआ कागज़ पेपरवेट से दबाकर चले गए। शायद बाबूजी के लिए रखकर चले गए थे।

मैंने गहरी साँस लेकर अगला पन्ना पलटा—

मेरे दिल के चाँद,

यह आशा की डोर, उम्मीद का तार मकड़े के जाले की तरह न समाप्त होने वाला है, लेकिन कितना कमज़ोर !

सोचा था, तुम्हें कोई पत्र नहीं लिखूंगी। जब अपनी इच्छा से ही तुम गृहस्थी के माया और मोह के जंजाल को काटकर चले गए हो, तो क्यों तुम्हारी साधना को तोड़कर पाप की भागिनी बनूं? दमयन्ती के नल चले गए, उर्मिला के लक्ष्मण चले गए, पिंगला के भरथरी चले गए, यशोधरा के सिद्धार्थ चले गए--तब भी तो उन्होंने अपने दिल पर पत्थर बाँधा होगा, किसी तरह रहकर एक-एक दिन काटा होगा। और उन लोगों ने काटा होगा या नहीं, पर मैंने तो काटने का निश्चय कर ही लिया है शक्ति-भर। कभी-कभी अकेलेपन के बोझ से मन कसक उठता है; लगता है, कहीं इस दुर्गम पथ पर मैं काँप और डगमगा तो नहीं जाऊँगी? लेकिन अब मुझे डर नहीं है, 'हारिल' की लकड़ी, निराशा की आशा और अँधेरे का आलोक मेरे भी पास है। मेरे पास मेरा 'राहुल' है—कम-से-कम यह ज़िन्दगी काट देने का आधार तो है ही।

लेकिन कभी-कभी खुद ही शंका होती है और मन बड़ा छोटा-छोटा होने लगता है। मैं अभागिन बौनी दमयन्ती, उर्मिला, पिंगला और यशोधरा को छूना चाहती हूँ—वास्तव में वे कैसे रहीं, कौन जाने; लेकिन हज़ारों भाट-कवियों ने उनके गुण-यश गा-गाकर उन्हे इतना ऊँचा उठा दिया। मुझ कम्बख्त के लिए किससे एक लाइन भी लिखी जायगी! मध्यवर्ग की रूढ़ियों में जकड़ी-बँधी एक निरीह नारी! नाम को जिसे इण्टर क्लास तक की पढ़ाई में निरन्तर समझना और बोलना ही रोज़ सिखाया जाता रहा, लेकिन बोलने का ही जिसे ज़रा भी अधिकार नहीं था। और जब भी उसने मुँह खोला, उसे छिनाल, कुलटा, लड़ाका—क्या-क्या नाम नही दिये गए? ज़िन्दगी में उसने चाहे अंगार पचाए हों या ज़हर, कवियों को उन सबके लिखने की ज़रूरत और फ़ुरसत क्यों हो? चाँद, तारे, फूल, पत्ते—ईश्वर ने उन्हें काफ़ी बना दिये हैं, और कुछ नहीं तो नेता लोग तो हैं ही। कोई मेरे दुख का ढोल नहीं पीटेगा। सिर्फ़ इससे मेरे पास दुख ही है, कैसे मान लूं? तुमने एक बार जो

लाइनें ताजमहल पर लिखकर पत्र में भेजी थी, वे मेरे दिल में चुभकर रह गई है।

अनगिनत लोगों ने दुनिया में मुहब्बत की है।
कौन कहता है कि सादिक़ न थे जज़्बे उनके।
इक शहंशाह ने दौलत का सहारा लेकर।
हम ग़रीबों की मुहब्बत का उड़ाया है मजाक।

जज़्बे सादिक़ हों या न हों, भावनाएँ सच हों या न हों, लेकिन उनकी नुमाइश तो नही की जाती। फिर भी कभी-कभी मन बड़ा व्याकुल हो उठता है। पता नही तुम कहाँ हो, किस हालत मे हो ?

मेरे भाग्य, मेरे लिए नहीं, तो अपने इस पुत्र के लिए तो एक बार आ ही जाते। मैं नहीं जानती किन शब्दों में अपने-आपको तुम्हारे सामने निरावरण कर दूँ। इस वक्त तुम्ही अनुमान लगा लो, मेरी क्या हालत है? रात का एक बज रहा है। किसी नीलाम से लाई गई सादा-सी शृङ्गार मेज पर लालटेन रखे मैं पत्र लिख रही हूँ। पीछे बेबी सो रहा है, पास ही ललिता और अन्ना की चारपाइयाँ पड़ी है। वे दोनों शायद दो-दो नींदें ले चुकी है। बेबी के पास दस बजे से बारह बजे तक सोने की कोशिश की, नींद ही नहीं आती। ऊपर वाले कमरे से भैया और भाभी की खिलखिलाहटें अभी आ रही थीं, अब तो हल्की-हल्की भनभनाहटें आ रही है। शायद वे लोग बातें कर रहे हैं। आज ठण्ड है और बाहर बादल छाये हुए हैं। हल्की-हल्की बूंदें ऐसे पड़ रही हैं जैसे बादल रिस रहा हो। जाने मन कैसा-कैसा हो रहा है, बडा उचटा-उचटा-सा, उखड़ा-उखड़ा-सा। हर समय मन में ऐसा लगता है जैसे न जाने क्या-कुछ खुला हुआ बाहर भीगा जा रहा हो, कुछ अमूल्य गला जा रहा हो। बार-बार उठ-उठकर बाहर झाँक आने को मन करता है···जैसे कोई आने वाला हो। कौन आ रहा है मेरा ? शायद ऐसा भाग्य लेकर ही पैदा नही हुई। तुम्हीं सोच लो। ऐसे समय कैसा बिखर-बिखर जाने को मन करता है ! काश, मेरा एक-एक रेशा बिखरकर जीवन धरने

के इस महापाप का प्रायश्चित कर पाता !

आज तो सच, बड़ी कातरता मन में उमड़ी पड़ती है। ऐसा तो, पता नहीं पिछले कितने महीनों से, अनुभव कर रही हूँ, जैसे कोई जवान विधवा पति की लाश पर सिर रखकर रात-दिन मन में लगातार बिलखती रहती हो, पर आज तो ऐसा लगता है जैसे वह फूट-फूटकर रो उठी है। ऐसा मन तो उस समय भी नही हुआ था, जब तुम्हारे घरवालों ने पाँच बजे की ठंड में मुझ पाँच महीने की गर्भवती को गाड़ी पर लाकर बिठा दिया था और यहाँ तक का एक टिकट मेरी गोद में पटककर चले गए थे। मेरे पास ताँगे तक को पैसे नहीं थे। यों बात-बात में रोने की मेरी आदत कभी नहीं रही। रात को दस बजे से सुबह पाँच बजे तक चुपचाप सिर झुकाए दरवाजे पर बैठी रही थी, तब तुम्हारे छोटे भाई ने (हाँ, वे तुम्हारे भाई हो, मेरे कुछ भी नही है) ताँगा लाकर खड़ा कर दिया, कहा—"चलो।" मै चली आई और आज तक उधर मुँह करके नहीं सोई। मैं खूब जानती हूँ इस पत्र का कोई अर्थ नहीं है। कौन जाने यह तुम्हें मिल ही जायगा ! शायद न भी मिले। बात तुम्हें सुनती होती तो क्या मुझे पता देकर न जाते ? कभी-कभी आवेश आता है, तुम्हें खोजने निकल पड़ूँ, पर कहाँ ? यह कहाँ का प्रश्न उस समय भी आया था जब तुम्हारे पिताजी ने ललकारकर कह दिया था—"बेटा था तब तक तू हमारी बहू थी, उसी के कारण तो तेरा-हमारा सम्बन्ध था। अब पता नही वह कम्बख्त-नालायक जीता है या मर गया। इतना ढूंढा, पता ही नहीं चल रहा है। हमारे पास क्या वैसे ही बोझ कुछ कम है, जो तुम्हारा बोझ हम और सहें ? पढी-लिखी लडकी हो, कुछ भी कर सकती हो, जो समझ में आये सो करो। तुम्हारी उम्र अभी ऐसी ही है और हमारे लड़के अभी नासमझ हैं। मकान छोटा है। मुहल्ले-समाज में हमारी बदनामी होती है।" कहने को तुम्हारे बाप ने काफ़ी कह दिया। और क्या सुनना चाहती थी ? क्या तब भी वहाँ जमी रहती ?

तुम चले गए, उनकी निगाह में यह मेरा ही कसूर है। उनका

जवान बेटा चला गया, मेरा क्या गया ?

मेरे नाथ, कम-से-कम मुझे यह तो बता देते, मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है ? मैं तुम्हारे चरणों की कसम खाकर कहती हूँ, मै उस अपराध का प्रायश्चित करते हुए सारी ज़िन्दगी बिता दूँगी, मुझे बता तो दो ! तुम्हें नौकरी नहीं मिली, तुम बेकार रहे, उन्होने तुम्हे पढाया, उन्होंने तुमसे आशाएँ कीं—क्या उस सबके लिए कसूरवार मै ही थी ? मेरे दिल में कम आशाएँ थीं ? मेरे मन में सपने नहीं थे ? क्या शादी से पहले किसी भी आकांक्षा ने मुझे नहीं लुभाया ? आखिर जिस वर्ग में पली थी, उसके कुछ संस्कार तो दिल मे थे ही । तुम्हारे यहाँ आकर ज़िन्दगी ख़त्म हो गई तो क्या हुआ ? इससे पहले कॉलेज था, सखी-सहेलियाँ थी । कहानी-किस्से, सिनेमा-उपन्यास थे—क्या नहीं था जो आज की लड़की को लुभा सकता है ? लेकिन मैंने तुमसे एक शब्द भी शिकायत का कहा ? इसलिए कि मैं जानती थी । मैं गाने के लिए पूरे कालेज में मशहूर थी, लेकिन तुम्हारे यहाँ आने पर किसी ने एक गुन-गुनाहट भी सुनी ? अपने अरमानों का यों खून पीकर भी मुझे अधिकार नहीं था कि चुप भी रह सकती ! तब भी घमडी, असामाजिक और भी न जाने क्या-क्या कहा गया ।

तुम घोर एकान्त-पसन्द हो गए, रूखे हो गए, चिड़चिड़े हो गए, और तुम झल्लाये-से रहने लगे । लेकिन मैंने तो यही कोशिश की कि तुम्हें ख़ुश रखूँ, तुम्हारे ऊपर, घरवालों के ऊपर अपना कम-से-कम बोझ डालूँ । क्योंकि मैं समझती थी, तुम ख़ुद अपने-आपसे ही परेशान थे; ऐसे में प्रेम क्या ख़ाक पनपता ? मैं खूब समझ सकती हूँ, खूब अनुभव करती हूँ कि तुम ज़िन्दगी से कितने आजिज़ आ गए होगे, जब तुमने घर छोड़ा होगा···और यहाँ मैं···मैं···ख़ुद भी कभी-कभी क्या सोचने लगती हूँ, इसे सुनकर क्या करोगे···

यों यहाँ रहती हूँ और शायद रहना ही पड़े, लेकिन दिन-रात यहाँ तबियत इस तरह घुटती रहती है, जैसे गले में फन्दा डालकर कोई दोनों

ओर से खींच रहा हो, या बन्द कमरे में धुआँ भर गया हो, बाहर खुली हवा में भाग जाने को मन करता रहता है।···छोटे से बड़े तक सबकी नज़रों में एक नफ़रत, एक उपेक्षा, एक हिकारत···मेरे खून की एक-एक बूंद में ज़हर घोल देती हैं। हाँ, कभी यहाँ की बेटी थी, तब शायद सब अधिकार थे, अब तो जैसे बोझ हूँ अनावश्यक। इसी डर के मारे बेबी को रोता छोड़कर दिन-रात काम करती हूँ। माँ की इच्छा होती है तब तक रखती हैं। बाकी समय पड़ा चीखा करता है। सारा चेहरा लाल पड़ जाता है और नीली-नीली नसें तनकर उभर आती हैं। कभी-कभी तो गुस्सा आता है, गरदन घोंटकर गली में फेंक दूं। अभागा! आते ही जिसने अपने बाप को छुड़ा दिया। लेकिन फिर खुद ही रुलाई फूट पड़ती है। इस बेचारे ने क्या किया है? ज़ोर से छाती से चिपकाकर चुप कर लेती हूँ—यही तो हारिल की लकड़ी, अंधेरे का आलोक और निराशा का दीपक है। तुम्हें तुम्हारे माँ-बाप ने ऐसी शिक्षा दी कि तुम संघर्षों में स्थिर नहीं रह सके, कठिनाइयों से लड़ नहीं सके। मैं इसे वह सब सिखाऊँगी जो तुम नहीं पा सके। लेकिन शायद ऐसा मौका नहीं आयेगा···दूध, दवा और देख-रेख की कमी में पता नहीं वह इतने दिन चले···।

दिन-रात तुम्हारे विषय में उलटी-सीधी आशंकाएँ करते हुए भी बुरा नहीं सोचना चाहती। मेरी चिन्ता नहीं करना चाहते, तो न सही। तुम हो, बस इसी आशा पर जीवन काटने का निश्चय कर लिया है। तुम विश्वास मानो, तुम्हारी तरह भागकर, जान छुड़ाकर चाहूँ तो भी नहीं जा सकती। थोड़े दिन और ठहरकर यहीं कुछ-न-कुछ करूंगी—टीचर या टाइपिस्ट, कुछ भी। पिंजरे में बहुत दिन बन्द रहने से पंखों का अभ्यास छूट गया है, झिझक लगती है, आत्म-विश्वास नहीं है, फिर भी···

खैर इन बातों से फ़ायदा भी क्या? तुमने जैसा ठीक समझा, किया। मैं इसमें क्या कहूँ? तुम मुझसे ज़्यादा पढ़े-लिखे हो, ज़्यादा

समझदार हो, विद्वान हो। अमरकान्त नाम के एक लेखक की कहानी पढ़ी थी, 'सोलह बरस'। उसमें जब एक युवक का परीक्षा में फेल हो जाने पर घर वालों द्वारा बहुत अपमान किया गया तो वह सबसे सम्बन्ध तोड़कर हॉस्टल में चला गया और वहाँ उसने भयंकर रूप से पढाई शुरू की। माँ-बाप के पत्र गए, हज़ारों पत्र पत्नी के गए। वह पढ़ता और हँसकर फाड़ देता, पढ़ाई में लग जाता। रात-दिन पढता। घर वालों की तरफ़ से जैसे पत्थर का बन गया, जैसे वह पढ़ने की मशीन हो गया। आखिर पत्नी की एक लाइन ने उसे हिला दिया। ऐसी ही एक रात्रि को उसे पत्र मिला, लिखा था—"अपने जन्मदिन के हिसाब से परसों मैं पूरे सोलह बरस की हो जाऊँगी, शायद यह दिन फिर कभी नहीं आएगा।" उसी रात वह बिस्तर बाँधकर घर पहुँच गया। तुम्हें हिला डालने की ऐसी कोई लाइन मेरे दिमाग में नहीं आ रही है। मेरा सोलहवाँ बरस शायद अब सदा के लिए गुज़र गया और यह उन्नीसवाँ बरस लग रहा है, और ऐसा लगता है जैसे यह सब वर्ष अँधेरे में खाट पर लेटे हुए, ऊपर ताकती-खुली आँखों से ही मैंने काट दिए हैं—उमड़-उमड़कर आता कोरों और कनपटियों पर बहता हुआ पानी कानों में भरता रहा है और मैं यों ही तारों को बर्छियों के नीचे सुन्न पड़ी रही हूँ।

लो, लालटेन का तेल मन्द पड़ रहा है। इस तेज़ी से बुझती रोशनी में क्या लिखूँ? लिखने में सोचने के लिए जब सामने शृंगार मेज़ के शीशे में अपने-आपको देखती हूँ तो अँधेरे से घिरी इस परछाईं को देखकर डर से चीख पड़ने की इच्छा को बड़ी कठिनाई से रोक पाती हूँ। यह मेरी परछाईं ··· यह मेरा भविष्य!

अभी तक शब्दों में खोई रही, भूमिका बाँधती-सोचती रही। कैसे पूछूँ? अब रोशनी बुझी जा रही है, अँधेरा काले राक्षस के पंखों की तरह मुझे ढाँपे लेता है, इस डूबती हुई परछाईं को यह तो बता दो कि बेबी अनाथ नहीं है, मैं सुहागिन हूँ!

और सच मानो, अँधेरे के इस विकराल मुँह में मैं खुशी से खो

जाऊँगी...

तुम्हारी—कोई नहीं...

जगह-जगह बूँदों से बिगड़े अक्षरों वाला यह तीसरा और अन्तिम पत्र भी समाप्त हो गया था।

साँस रोके चुपचाप बैठा रहा। गीली आँखें सामने के दरवाज़े की चिक के पार धूप में चमकती रेल की पटरियों पर जमी रहीं। आवेश में काँपते हाथ की उँगलियाँ उस आलपीन को निकालने में लगी थीं जिसमें ये तीनों पत्र नत्थी थे। अचानक निगाह पेपरवेट के नीचे दबे पंखे की हवा से फरफराते टाइप के पतले काग़ज़ की ओर गई, जिसे मुंशीजी अभी दबा गए थे। उसमें लिखा था—"इस दुर्घटना में पैंतीस आदमी जान से मारे गए, बानवे घायल हुए, दो की शिनाख्त नही हो सकी, वे अस्पताल में हैं।"

इस नोट से चौंककर निगाह अख़बार के कोने पर छपी छोटी-सी खबर की ओर चली गई—"कोरिया में अमरीकी विमानों का आज तक का सबसे ज़ोरदार हमला! इस हमले में इतने भारी बमों का प्रयोग किया गया, जितना अभी तक किसी भी युद्ध में नहीं हुआ। अनुमान है इस हमले में सात हज़ार से अधिक जानें गईं और नुकसान का कोई अन्दाज़ नहीं लगाया जा सका। लाशें पचास मील दूर से देखी जा सकती थीं..."

पढ़कर भन्न से सारा शरीर जम गया, पता नहीं, कब इसी बीच में आलपीन पुराने घाव में जा चुभी। दर्द से झुँझलाकर जैसे जाग उठा। हुँ, क्या बेवकूफ़ हूँ कि ज़रा-सी खबर से चौंककर यों भावुकतावश आलपीन चुभा बैठा।

तो यह किस्सा है आलपीन चुभ जाने का। बोलो कोई बात भी हो। ट्रेन दुर्घटना में पैंतीस मरें या अमरीकी हमले में सात हज़ार। उन पर इंजन चढ़े या हाइड्रोजन बम। हम क्या करें? भाई, सच्ची बात तो यह है कि मरने वालों की मरने वाले जानें या जानें अखबार वाले, जो ऐसे महत्वहीन समाचारों को दूसरे पृष्ठ पर दो इंच से अधिक जगह

। अपनी तो मैं जानता हूँ। टूटी-जंग लगी आलपीन मेरी उँगली में ज़रा-सी चुभ गई है तो उँगली पक आई है और रात-भर ऐसी टीस मारती रही है कि एक पल को भी सो नहीं पाया हूँ। अब भी तकलीफ़ के मारे जी रोने-रोने को हो आता है।

और आलपीन भी कैसी ? कोई तीर, बल्लम, बरछी, बम नहीं; एक पतली-सी तारनुमा, जंग लगी टूटी आलपीन ! जिसमें सिर्फ़ तीन पत्र नत्थी थे, कुछ और भी अवश्य होंगे, यह फटे कागज़ के चिपके रह गए कोनों से पता लगता है। अब तो सब न जाने कहाँ होंगे। मेरे हाथ में तो तीन ही रह गए थे और उनको बाँधे रखने वाली यह पतली-सी आलपीन है—उन्हें ही तो निकालने की अनजान कोशिश में यह टूटकर चुभ गई है और तीनों पत्र बिखर गए है।

मैं तय नहीं कर पा रहा हूँ कि इस मशीन के पंखे की हवा से इधर-उधर बिखरे पत्रों के पन्ने समेट लूँ या इस चुभी हुई आलपीन को निकाल लूँ, जो बेहद तकलीफ़ दे रही है…

इस समय तो तीन पत्रों के ही पन्ने है, पता नहीं इस पिन में ऐसे कितने पृष्ठ और चिपके थे, जो टूटकर दिल में चुभ गए है।

सामने कोकाकोला की बोतल के झाग इस तरह सिमटकर बैठ गए थे, जैसे फँसी मक्खी को चूस डालने के बाद मकड़ा एक कोने में सिमटकर बैठ जाता है।

नीराजना

उँगली से संकेत किया—यहाँ हस्ताक्षर कीजिए, यहाँ कीजिए। इतनी बार मनीआर्डर लिये, उसे कभी भी दूसरी बार याद नहीं रहा कि हस्ताक्षर कहाँ करने है। उसने हस्ताक्षर किये—रविकुमार।

"कहाँ का है ?" दूसरी जगह हस्ताक्षर की तारीख डालते हुए उसने पूछा।

"इलाहाबाद, पाँच-सौ का है !" डाकिये ने रुपये बढ़ाये, उनके साथ मनीआर्डर-फार्म का नीचे वाला हिस्सा भी था।

"पाँच सौ का ?" एकदम आश्चर्य से चौंककर वह दो क़दम पीछे हट गया।

पाँच सौ का किस बात का है ? उसने जल्दी से नीचे का फटा हुआ हिस्सा देखा, नीचे टेढ़े-मेढ़े अक्षरों में लिखा था, "आपके सब रुपये लौटा रही हूँ। अब मत भेजिए। आशा है, आप क्षमा करेंगे।" नीचे हस्ताक्षर उसी के थे। हाँ, और ग़ौर से देखा, वही हज़ारों बार के जाने-पहचाने अक्षर—नीराजना। उसने एक बार पढ़ा, दो बार पढ़ा और उसकी उँगलियाँ धीरे-धीरे काँपने लगीं। उसने चिट उलटी—और कुछ नहीं।

डाकिया खड़ा हुआ दूसरे काग़ज़ उलट-पलट रहा था। जब भी उसका कोई मनीआर्डर आता, तो प्रायः दस रुपये पर एक दुअन्नी के हिसाब से उसका इनाम बँधा था। उसने जल्दी से उसके हाथ में एक रुपया रखा और भीतर चला आया।

किवाड़ भिड़ाकर वह ज़ोर से पलंग पर आ बैठा, "हुँ, तो उसने सब रुपये लौटाए है ! लौटा दिए ! क्यों ?" पास रखी छोटी मेज़ पर उसने सारे नोट पटक दिए और मनीआर्डर की चिट को वह एकटक देखता रहा—रुपये आखिर उसने लौटाये क्यों ? कोई पत्र, कोई सूचना, कुछ भी नहीं, एकदम रुपये ही लौटा दिए। साथ ही स्पष्ट लिख दिया है कि भविष्य में कोई रुपये न भेजे जायँ। तो अन्त यों हुआ उन सब का ! इन तीन वाक्यों के सिवा एक शब्द भी अधिक नहीं। आखिर

उसको हुआ क्या ?

वह खुली खिड़की के लहराते परदे के पीछे हरियालियों और ऊँचे पहाड़ों को देखता रहा, जिनकी चोटियों के आस-पास बादल धुएँ की तरह मँडरा रहे थे। नीचे उतरी चली जाती घाटियाँ और करधनी की तरह पहाड़ की कमर पर झूलनी सड़कों की पतली डोरियाँ ! घने वृक्षों पर लटकते बया और दूसरे पक्षियों के घोंसले जैसे ऊपर-नीचे बँगले-मकान। घाटी के पार अंग्रेज़ी अक्षर 'बी' की शक्ल में खुले आसमान में दूर हल्के धब्बों-सी काँपती चीलें। वह यों ही अनमना और निर्लक्ष्य-सा बैठा देखता रहा। उसे प्रतिक्षण ऐसा लगता रहा, जैसे उसकी आत्मा में बरछे की नोंक जैसी कोई चीज़, परत पर परत, छेदती चली जा रही है, जिसकी पीड़ा से घड़ी की हर टिक् पर वह तड़पकर रह जाता है।

अचानक घंटी की आवाज़ से वह चौंका। हाँ, मेज़ पर खाने की प्लेटें लगाकर खानसामा घंटी बजाकर उन्हें बुला रहा है। बड़े डरते-से उसने किवाड़ों की ओर देखा और धीरे-से पलंग पर लेट गया। गीली तौलिया की सीलन और सिकुड़न उसे पीठ में महसूस हुई, लेकिन उसमें जैसे हिम्मत नहीं थी कि तौलिया को निकालकर फेंक दे। वह आँखें फाड़े पड़ा छत को घूरता रहा।

अँधेरे में घूमती सर्चलाइट की तरह रह-रहकर एक ही वाक्य उसके दिमाग़ में आता—तो उसने रुपये लौटा दिए, क्यों ? ख़ुशी से तो उसने ये रुपये लौटाये नहीं होंगे—फिर ! इस 'फिर' का जवाब उसके पास नहीं था। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि इसका अर्थ क्या ले ?

बेमालूम ढंग से किवाड़ खोलकर खानसामा ने कहा, "बाबूजी ! सरकार खाने की मेज पर बुला रहे हैं आपको।"

"खानसामा, मेरी तबियत ठीक नहीं है आज !" इतनी देर से एक ही ओर गड़ गई दृष्टि को उधर मोड़कर उसने कहा, "आज मैं खाना नहीं खाऊंगा।"

खानसामा थोड़ी देर चुपचाप उसे देखता रहा, फिर बोला, "थोड़ा दलिया तैयार कर दूँ सा'ब ?"

"खानसामा, आज मेरी तबियत ठीक नहीं है, मुझसे मत बोलो !" इच्छा तो यह हुई कि इस व्यर्थ की बकवास करते खानसामा को खींचकर एक चाँटा जड़ दे, फिर भी भरसक चिड़चिड़ाहट को दबाकर उसने कहा और फिर ऊपर देखता हुआ लेट गया।

खानसामा अगली बात, शायद 'सूप' तैयार करने की, पूछने वाला था, लेकिन चुपचाप चला गया। अब उसकी समझ में एक बात धीरे-धीरे आने लगी—अपमान, अपमान ! क्या यह स्पष्ट अपमान नहीं है ? नीराजना ने उसके रुपये लौटा दिए। बात असली यही थी, जिसने उसे इतना स्तब्ध और विक्षुब्ध बना रखा था। डाकिये के सामने स्लिप पढ़ते ही जो धक्का उसे लगा था, वह यही था। यह धक्का इतना अप्रत्याशित और गहरा था कि वह देखता ही रह गया। अपनी उस मानसिक स्थिति को व्यक्त कर डालने वाला कोई एक शब्द उसके मस्तिष्क में आया ही नहीं।

ग्यारह बजे से एक बजे तक पलंग पर पडे रहने के बाद वह धीरे से उठा। अब उसकी समझ में आया, यह धक्का अपमान का था—अपमान जिसकी चोट से वह तिलमिला कर रह गया है—किंकर्तव्यविमूढ़ और जड़। उसने पुतले की तरह कपड़े पहने, मेज़ पर पड़े नोटों को दराज़ में डाला और सिगरेट का टिन उठा लिया। रुपये ! पता नहीं, कैसी मुसीबतों में मैंने ये रुपये भेजे थे ! अच्छा ही तो हुआ कि अब सब लौट आए। पन्द्रह-बीस दिन बड़े आनन्द से 'हैकमन' में खाना खाऊँगा, आमोद करूँगा। न सही 'हैकमन' कुछ और सही। रुपया तो जीवन की धुरी है। फिर भी···फिर भी उसे लौटाना नहीं चाहिए था, कम-से-कम···

वातावरण कुछ अजीब सीला-सीला हो उठा था और बादलों का धुआँ बुरी तरह चारों ओर फैला हुआ था। बरामदे की सीढ़ियों पर खड़े

होकर उसने सिर उठाकर देखा, शायद पानी बरस जाय। लेकिन फिर वह निकल पड़ा। इस बँगले से ढालू सडक, मुख्य सड़क से जाकर मिल गई थी, हर क़दम पर कंकड़ चरमरा उठते थे। आज बादल ग़ज़ब के घिर आए थे। सामने छः-सात फीट से आगे देखना मुश्किल था। शरीर भीगा-भीगा-सा लगता और बादलों की गन्ध नाक में भर जाती तो ऐसा लगता, जैसे कच्ची मूँगफलियों को कहीं कोई भून रहा हो—साँस घुट जाती है।

'केमिल बैंक रोड' ख़त्म करके जब वह माल पर आया, तो बादल कम हो गए थे। जब कभी याद आने पर सिगरेट के कश खींच लेता और निरुद्देश्य, निर्लक्ष्य चलता जाता। रिक्शा चलाने वाले कुलियों की एक बड़ी लम्बी लाइन लगी थी—ख़ाली रिक्शे और डाँड़ी लिये। माल रोड पर लोग इधर-से-उधर जा रहे थे—सब जैसे धुँधलके में लिपटे, जैसे स्वप्नलोक की कुछ मूर्तियाँ चल-फिर रही थीं। सब-कुछ उसे ऐसा दिखाई देता, जैसे 'आउट आफ़ फोकस' फोटो हों।

कुलड़ी को ऊपर जाने वाले चढाव के नीचे वाली बैंच पर घाटी की तरफ़ मुँह करके वह बैठ गया। यह उसकी प्रिय जगह थी। चौबीस घंटे में एक बार वह अवश्य यहाँ आकर बैठा करता था। यह माल का प्रारम्भ था। माल मसूरी की शान है। मसूरी के सबसे अच्छे सिनेमाघर, रैस्टराँ, कैफ़े इसी सड़क पर हैं और सध्या के समय तो जैसे इस सडक पर कोई रंग-बिरंगे फूल बिखरा देता हो। इस ऊँची-नीची चौड़ी सड़क पर न जाने कब से वैभव की धार फिसलती आई है—यौवन की लहरों में उमंगित और सौन्दर्य के फेनों में तरंगित। युवा सौन्दर्य की जलती-पिघलती भावुकता नस-नस को उबाल देती है। सौन्दर्य! सौन्दर्य! सौन्दर्य! रंग-बिरंगा सौन्दर्य! जवान और अल्हड़ सौन्दर्य! मस्त और मोहक सौन्दर्य! सरसराती सलवारें, उड़ते दुपट्टे, डुगडुगी-से साये, कस-कर लपेटी गई अंग अंग के उभार को सुस्पष्ट करती साड़ियाँ! लापरवाही से कन्धों पर पड़े आधे और पूरे 'फर' वाले चेस्टर', शाल! नागिन-सी

लहराती-मचलती दो-दो चोटियाँ, जूड़े—महाराष्ट्रियन, गुजराती बंगाली ! बिखरे बाल, जाल में बंधे बाल ! हाथों में झूलते पर्स ! पाउडर-लिपस्टिक, रूज, भौंहें—पफ़्ड हेयर, बॉब्ड हेयर, कर्ली हेयर ! विलायती खुशबुओं में झूमता, संसार को चुनौती देता बेपरवाह सौन्दर्य ! साथ में पुरुष दबे-से, मिमियाते, फटीचर, कोट-पैंट या जर्सी—जैसे साथ में पालतू कुत्ते पूँछ हिलाते चले जा रहे हों। कभी पहाड़ों की तरफ़ देखकर भावुकता का नाट्य करके कह देते, "हाउ लवली इज द सीन !" जैसे अपने मुँह से निकालकर इन शब्दों पर उन्होंने बड़ा अहसान किया हो। बॉक्स कैमरे लटकाए, जैसे पिस्तौल लटकाए जा रहे हों। सारा संसार जैसे सैर के 'मूड' में निकल पड़ा हो—रेलिंग के सहारे लगी बेंचों पर (जो पहाड़ी सौन्दर्य को देखने के लिए बनाई गई हैं) बैठे हुए भी, मुड़-मुड़कर इस बहती सौन्दर्य-धारा को ही देखते हैं—साथ वालों के भाग्य पर रश्क करते हुए। कुछ और मनचले हुए तो उनके कपड़ों या ढंग में कोई-न-कोई कमी निकालकर उनका मजाक उड़ाकर हंसते हुए और साथ में चलने वाले, कभी गर्व से तने, कभी घूरनेवालों की बदतमीज़ियों पर झुँझलाते हुए—बच्चों को गोद में लिये चले जा रहे है। लेकिन साथवालियाँ किसी को घूरता हुआ देखकर, जान-बूझकर लापरवाही दिखाती हुईं—कभी जूड़ा ठीक करेंगी, कभी साड़ी की सलवटें निकालेंगी, कभी दुपट्टे को फिर उठाकर डालेंगी।

आज माल पर बादलों का धुन्ध छाया हुआ था—हवा के झोंकों से जो कभी घाटी में सिमटकर रह जाता और सड़क साफ़ हो जाती और कभी सड़क पर परदे की तरह तन जाता।

लेकिन आज उसने पीछे मुड़कर नहीं देखा। उसके अवचेतन मन में यह सब मधु-मक्खियों की भनभनाहट की तरह गूंजता रहा। छाती पर किसी ने बोझ रख दिया था कि साँस लेने में तकलीफ़ होती थी। दिमाग़ में जैसे कोई तरल और हल्की चीज़ जमकर ठोस हो गई थी—स्पन्दनहीन। हर क्षण उसका दम इस तरह घुटने लगता था,

जैसे वह डूब रहा हो—विवश और असहाय ! खुली आँखों से वह गहरी घाटी के पार उठे पहाड़ों को देखता रहा। कभी घाटी में भरे बादलों का नीला धुआँ, घर, पेड़, सड़क, सबको डुबाता हुआ, इस तरह माल की सतह से दूर पहाड़ों तक छा जाता कि लगता वह झील के किनारे बैठा है। तब रह-रहकर एक अदम्य इच्छा उसके मन में उठती—कैसा अच्छा हो यदि वह एक उन्मुक्त छलाँग लगाकर इन बादलों की अथाह गहराइयों में डूब जाय !

खण्डहर के सूने गुम्बद में इधर-से-उधर घूमते, मनहूस चमगादड़ की तरह एक ही बात उसके दिमाग मे फ़ड़फड़ा रही थी—उसने रुपये लौटा दिए—क्यों ? मुझे इस तरह अपमानित ही करना था तो पहली बार लिये ही क्यों थे ?

पता नहीं कितनी देर वह वहाँ बैठा रहा। अचानक कन्धे पर किसी के स्पर्श से चौंककर उसने देखा—रोज़ी, हाथ में रैकिट लिये।

"आप यहाँ कैसे बैठे है ? हम लोग तो आपके यहाँ जा रहे थे।" रोज़ी बोली। उसके साथ वाली मधु ने केवल नमस्ते किया और पहाड़ों की ओर देखती रही।

"नहीं रोज़ी, आज मेरी इच्छा नहीं है। वहाँ दर्शन होगा, और सब होंगे ही।" उसने जैसे गिड़गिड़ाकर कहा और मधु के नमस्ते का बड़ा सुस्त-सा उत्तर दिया।

मैकलीन से साफ किये गए दाँतों की चमक दिखाने वाली विज्ञापित लड़की की फोटो की तरह हँसती हुई रोज़ी ने अँग्रेज़ी में कहा, "ओह ! तो आज आपकी तबियत खराब है ! बहुत उदास हैं आप !"

जवाब में फीकी-सी मुस्कान लाकर उसने कहा, "हाँ, सिर में दर्द है। 'गेम' को किसी और दिन के लिए रख लो। शटल कार्क मेरे कमरे से निकलवा लेना !" और वह मुड़कर बैठ गया। रैकिट हाथों में घुमाती हुई रोज़ी मधु के साथ चली गई।

चार बज गए ! बैंच की टेक पर हाथ फैलाकर घड़ी की ओर

देखते हुए उसने सोचा और एक गहरी साँस उसके फेफड़ों से बाहर निकल आई। कैप्टन साहब के बँगले पर ही बैडमिंटन कोर्ट है, जो पहाड़ों में किसी ही कोठी में होता है। इसीलिए रोजी और मधु इतनी दूर खेलने जाती हैं। कैप्टन साहब के दोस्त की लड़की है रोज़ी। मधु नई ही है, चुप और शरमीली। खेलना सीख रही है। वहाँ भी कुछ और आस-पास के बँगलों से आ जाते हैं। रोजी पन्द्रह-सोलह वर्ष की है, वाइनबर्ग में पढ़ती है और गजब का खेलती है। फुरती तो इतनी कि बिजली की तरह इधर-उधर कौंधती ही रहती हैं। कोर्ट में जिस समय वे दोनों ही हों, खेल देखने लायक होता है। इंजन के सिलण्डर की तरह शटलकार्क 'शटाक्'-'शटाक्' इधर से उधर भागता है।

शान्त तालाब में एक क्षण को चंचलता आई थी। वह फिर सुस्त और उदास, करवट बदलकर बैठा रहा—जड़ पत्थर-सा।

और जब दिन-छिपे की बत्तियाँ जल गईं, तो वह धीरे से उठा। एक क्षण को उसे अपने-आप पर बड़ी झुँझलाहट हुई—क्या बेवकूफ है! एक मूर्ख लड़की ने उसके रुपये लौटा दिए और वह यों मरा जा रहा है। लेकिन तत्काल ही उसे फिर निराशा और उदासी के केकड़े ने अपनी बाँहों में कस लिया। कुलड़ी पार करता हुआ वह राजपुर-बालगंज वाली सड़क पर आ गया। एक-आध सैलानी ने उससे मॉसीफाल का रास्ता पूछा। सुनसान! सुनसान वह चाहता था, जहाँ कोई न हो! पहाड़ों की मरोड़ों में बल खाती हुई सड़क ढालू चली गई थी। दो-तीन मोड़ पार करके वह फिर बैंच पर बैठ गया, वातावरण अब भी बादलों से बोझिल था।

पीछे ऊँची पहाड़ी दीवार चली गई थी और सामने अथाह अँधेरे से भरी घाटियों में बिजली की बत्तियाँ जगमगा रही थीं, जैसे पहाड़ों की कगार पर दूर तक किसी ने दीपावली मनाने के लिए दीये रख दिए हों। बत्तियों की तीन-चार लाइनें नीचे दूर देहरादून तक चली गई थीं। सामने ऊँचे पर माल के दोनों ओर कुलड़ी और लाइब्रेरी

जगमगा रही थी, जैसे प्रवेश-द्वार बल्बों से सजा हो। ऐसा लगता था, जैसे किसी ने कसौटी के काले पत्थर पर सोने से आड़ी-तिरछी लकीरें खींच दी हों, या जैसे पहाड़ों पर लगी ये रोशनियाँ किसी विराट् बैंजो के बटन है और अँधेरे का बुर्का पहने किसी के कोमल-अदृश्य हाथों की उँगलियाँ बड़ी तीव्र गति और क्रम से इन पर पड़ती हैं। हर बटन उँगली पड़ने से दब जाता है, फिर उभर आता है, और एक करुण संगीत की अव्यक्त ध्वनियाँ सारे वातावरण में थरथरा रही हैं। लहर जैसे किनारे से टकराकर चुपचाप बिखर जाय, इसी तरह उसके हृदय से इस सुनसान एकान्त अँधेरे और रात में चमकते प्रकाश-बिन्दुओं के संगीत की लहरें टकराती रहीं।

उसने अनुभव किया कि बादल घने हो गए है और वातावरण भीगता जा रहा है। यह अकेलापन, रात उदास और बैठा जाता-सा उसका निराश हृदय, सुनसान! कभी कोई बाज़ार से लौटने वाला उसके पीछे से चुपचाप भले ही चला जाय। अगर वह यहाँ से गिरकर मर जाय तो? कौन है जिसकी आँखों में दो आँसू भी आयेंगे? कोई नहीं; कोई नहीं।

हल्की-हल्की बूँदें पड़ने लगीं।

मान लो, ज़ोर से वर्षा हो और वह यों ही बैठा जम जाय! शायद कोई भी तो दुनिया में ऐसी नहीं है, जो उसकी लाश के जमे माथे पर स्नेह का हाथ फिरा सके। एक यह है नीराजना, पता नहीं, कैसे-कैसे करके रुपये भेजे और उसने चुपचाप लौटा दिए, एक शब्द भी नहीं लिखा। यह है सहानुभूति का अपमान! कितना अप्रत्याशित, क्रूर, निष्ठुर!

और पता नहीं कब उसकी आँखों में भरे आँसू इधर-उधर बह चले—पहले चुपचाप चलते रहे, फिर तो जैसे उबल-उबलकर आँखों में भर आने लगे।

विशाल पहाड़ की एक सिकुड़न पर बनी, सड़क के किनारे की एक

बेंच पर बरसती बूँदों के नीचे वह क्षुद्र मनुष्य देर तक सिसक-सिसककर रोता रहा, जैसे इतनी देर से जमा विषाद बह जाना चाहता था।

आध घंटे वर्षा हुई। आध घंटे वह रोया !

उसे ज़ुकाम हो जायगा—निमोनिया, बुखार, या हो सकता है ठंड से वह अकड़कर ही रह जाय; लेकिन नहीं, सब जानते हुए भी वह चुपचाप भीगता ही रहा।

और फिर बड़े निर्जीव क़दमों से वह गरदन झुकाए धीरे-धीरे लौट आया। मुरझाई केंचुली की तरह सड़कें उदास पड़ी थीं।

वह चुपचाप अपने कमरे में जाकर पड जाना चाहता था, इसलिए बड़े आहिस्ते से उसने बरामदे की सीढ़ियाँ पार कीं।

"मिस्टर कुमार, हम लोग आपकी राह देख रहे हैं।" अचानक बरामदे के किवाड़ों को थोड़ा खोलकर कैप्टन दास ने ज़रा-सा झाँक-कर कहा।

उसे जाना पड़ा। कपड़े उसके भीग रहे थे, बाल अस्त-व्यस्त थे और आँखें जल रही थीं। किवाड़ खोलते ही, ज्यों ही कमरे में से आती हुई रोशनी उसके ऊपर पड़ी, कैप्टन दास एकदम बोले, "यह क्या ? आप तो कहीं भीगे है ! जाइए, पहले कपड़े बदलकर आइए !"

बड़ी अनिच्छा से जब वह कपड़े बदलकर अपने कमरे से आया, तो कैप्टन दास और मिसेज़ दास खाने की मेज पर बैठे थे। लडका दर्शन और सबसे छोटी लड़की शैला शायद जाकर सो गए थे। कैप्टन के ठीक सामने उसके लिए कुरसी खाली थी, उसी पर वह आकर बैठ गया। उसने अनुभव किया, दोनों ही बड़ी विचित्र दृष्टि से उसे देख रहे हैं, बोलना चाहकर भी नहीं बोल रहे। खानसामा प्लेटें लगा चुका था। जब उसके बैठते ही खानसामा ने एक प्लेट रख दी, तो डरते-झिझकते, जैसे कोई अपराध कर रहा हो, उसने कहा, "खानसामा, ये प्लेटें उठा लो !"

यह स्पष्ट था कि खाना खाने का समय नहीं है, शायद वे लोग उसके लिए राह देखते रहे हैं। उसकी बात सुनकर दोनों ने पलकें उठाकर उसे देखा, फिर अपने सामने रखी प्लेटों पर दृष्टि झुका ली। कैप्टन दास ने अपनी नेपकिन ठीक की और चम्मच से तरकारी का रस मुँह में डालकर कहा, "नही, रख जाओ !" स्वर में आज्ञा थी।

उसनें भी एक बार दोनों की निगाहों को अनुभव किया और फिर वह चुप रहा। हर क्षण उसे अनुभव होता, जैसे वह विदेशी और जबर्दस्त लदा हुआ बोझ हो...और यह अनुभूति धीरे-धीरे गहरी ही होती जा रही थी। उसे ऐसा लगा, जैसे कैप्टन दास कुछ कहना चाहते हैं। उसके लिए या तो वे बहाना तलाश कर रहे हैं, या फिर साहस एकत्र कर रहे हैं। वह मन्द गति से खाता रहा।

बिना जरूरत ही गिलास से ज़रा-सा पानी पीकर कैप्टन दास ने धीरे से कहा, "आप जानते हैं मिस्टर कुमार ! हम लोग—मैं और डॉक्टर मुकर्जी—कब से एक दूसरे को जानते हैं ?"

यह भी कोई प्रश्न है ? फिर भी उसने नासमझ बनकर, एक क्षण उनके चेहरे को देखा, फिर धीरे से ही उत्तर दिया, "जी, उन्होंने बताया था कि आप कालेज में साथ रहे हैं।"

"हाँ, हम दोनों क्लास-फेलो ही नहीं, एक ही कमरे में भी रहते थे।" कैप्टन ने अब जरा खुलकर कहा, "और शायद आपको यह भी मालूम है कि जब आपके लिए उन्होने लिखा था, तो मैंने क्या जवाब दिया था ?" एक क्षण को उत्तर के लिए उन्होंने कुमार की ओर देखा और फिर वे स्वयं ही बोले, "मैंने लिखा था, इस 'पेइंग गेस्ट सिस्टम' के मैं खिलाफ हूँ; क्योंकि जब यही आदमी को करना है, तो होटल में रहे ! बम्बई, कलकत्ता और अब देहली में तो ठीक है, लेकिन कम-से-कम मसूरी जैसी जगह के लिए मैं इसे ज़रूरी नही समझता।"

"मैं समझा नही।" किस 'मूड' मे यह बात कही गई है, यह देखने के लिए उसने उनके चेहरे की ओर देखा और कान फिर उधर

लगाकर नीचे प्लेट में देखता रहा।

"हाँ, वहीं तो मैं बता रहा हूँ आपको—बम्बई जैसी जगह में तो ठीक है कि आपने अपने फ्लैट का एक कमरा दे दिया। लाइफ़ वहाँ इतनी बिज़ी है कि शायद खाने के वक्त ही आप मिलें, वह भी बड़े ऊपरी-ऊपरी, फार्मल।" इसके बाद उन्होंने बड़ी जल्दी में कहा, "लेकिन मसूरी तो बड़ी शान्त और एकान्त जगह है न! यहाँ यदि एक ही फेमिली की तरह घुल-मिलकर न रहा जाय तो बड़ा मुश्किल पड़ जायगा। और देखिए मिस्टर कुमार! बुरा मत मानिए। यह ठीक है कि आर्थिक विषमताओं के कारण आदमी-आदमी के सम्बन्धों का पुल रुपयों से ही बनता है, लेकिन क्या हमें हमेशा ही इस बात का ध्यान रखना होगा? या उसी सतह को आधार बनाकर बात करनी होगी? क्या हम लोगों को किसी और आदमी से सिर्फ़ इसलिए बोलना भी नहीं चाहिए कि हमारा और उसका स्पष्ट स्वार्थ का या आर्थिक सम्बन्ध नहीं है?"

पहले तो वह समझा ही नहीं, क्योंकि वह अपने-आप में ही अधिक खोया हुआ था; लेकिन जब फिर सचेत होकर उसने सोचा, तो उसका चेहरा तमतमाने लगा।

"आप मेरे बारे में कह रहे है?" उसने यथासम्भव संयत स्वर में पूछा।

"नॉट पर्टीक्युलर्ली एबाउट यू, लेकिन मैं कहता यह हूँ कि हम सभी जानते है, हमारे पारिवारिक सम्बन्ध भी आर्थिक स्थिति पर निर्भर होते हैं। लेकिन हमेशा ही सब चीज़ें उसी से थोड़े ही तोली जाती हैं। उसके ऊपर भावना के परत हैं जो उन सम्बन्धों को मधुर रखते है और तभी परिवार चल सकता है, वरना 'पेइंग गेस्ट' तो हम सभी है। मैं पूछता हूँ, आप सुबह से ही परेशान हैं, क्या इस चीज़ से हमें कोई मतलब नहीं होना चाहिए?" कैप्टन उत्सुकता से उसकी ओर देखते रहे।

[illegible] उसकी समझ में आई और अचानक जागे अहं का उठा

हुआ फन झुक गया और वह प्राय: निरुत्तर चुपचाप देखता रहा।

"मैं देख रहा हूँ, सुबह जब से डाकिया रुपये देकर गया है, तुम परेशान हो, तुमने खाना नहीं खाया। रोजी बता रही थी, तुम माल पर बैठे थे। इसका मतलब है, आज स्कूल भी नहीं गये पढ़ाने, कपड़े तुम्हारे बता रहे हैं कि तुम खूब भीगे हो और अब इतनी ठण्ड है तो भी तुम एक कमीज़ पहने हो, यह अपने से दुश्मनी नहीं तो और क्या है?"

उसकी झुकी आँखों में फिर पानी भर आया और उसकी इच्छा हुई कि वह फूट-फूटकर रो उठे। बड़ी मुश्किल से अपने मुँह के कौर को वह काफ़ी देर तक चबाता रहा। उसे लगा था कि वर्षा में भीगकर और खूब रोकर उसके मन की सारी घुटन धुल गई है, लेकिन कैप्टन साहब ने उसे जैसे छू दिया।

"खाओ न!" बड़े अनुरोध से कैप्टन बोले, "आपका यह रवैया एक परिवार का रवैया नही है, यह होटलों का ढंग है कि हमारा-आपका सम्बन्ध सिर्फ खाने और रहने तक हो। कोई मुश्किल, कोई मुसीबत यदि मेरे ऊपर आती है तो क्या मैं आपसे सहायता की आशा न करूँ?"

"क्यों नहीं?" उसके घुटे गले से बडी मुश्किल से स्वर निकला।

"सो तो है ही।" इस बार मिसेज़ दास बोलीं। वे बड़ी आत्मलीन-सी बैठी थीं। कैप्टन दास खाते रहे।

"तो क्या इसी तरह हम आशा नहीं करते कि आप पर कुछ परेशानी हो तो आप हमें मौक़ा देंगे? आपस में बैठकर बातचीत करने से ही बहुत सी बातें हल हो जाती हैं, आखिर ये रुपये कैसे हैं कि इन्होंने आपको इतना डिस्टर्ब कर दिया? आप तो बहुत शान्त तबियत के आदमी हैं!"

बात उसकी समझ में आई। अपनी चम्मच को व्यर्थ ही इधर-उधर चलाता रहा, "छिपाना तो मैंने कुछ भी नहीं चाहा, लेकिन यह

चीज़ इतनी अप्रत्याशित हुई कि इस धक्के को मैं सँभाल नहीं पाया। वैसे कोई खास बात भी नहीं है। अब मैं बिलकुल ठीक हूँ।"

गोद में फैली तौलिया उसने कुरसी के पिछले हिस्से पर डाल दी और बाथरूम में चला गया। अपने को संयत करता रहा। जब वह लौटा, तो प्लेटें हट गई थी और कॉफ़ी के प्याले रख दिये गए थे।

कॉफी को ज़रा-सा 'सिप' करके उसने कहा, "पहले चाहे कोई छिपाने की बात रही भी हो, आज तो मैं कोई ऐसी बात नहीं समझता। बात सिर्फ यह थी कि पिछले दिनों जब मैं इन्दौर में टेम्परेरी लेक्चरर था, तो 'फ़र्स्ट ईयर' में एक लड़की आई, नीराजना। वह क्लास में लड़कों की तरह हँसती थी और बिलकुल बेझिझक होकर सामने वाली सीट पर बैठती थी। आस-पास की लडकियाँ कोई ऐसी-वैसी बात आ जाने पर शर्माती, झेंपतीं, लेकिन वह जैसे निर्लिप्त—एक बार उपेक्षा से उन्हें देख लेना और बस फिर वही खूब ज़ोर से बोलती और बात-बात में मुझसे बहस करती। कभी-कभी पूरे 'पीरियड' में मैं कुछ न पढ़ा पाता। लड़कों में भी बड़ी हलचल थी और वे चकित थे। वह सबसे बात करती थी। अब लड़के उड़ाने लगे, 'अपने सामने वाली सीट के लड़के को देख-देखकर वह यों मुस्कराती है, उससे यो आँखें लड़ाती है, वह लड़का उस पर यों जान देता है।' मैं खुद क्लास में बड़ा अव्यवस्थित हो जाता था। एक दिन क्लास से निकलते ही वह बोली, 'आपको हमारे फ़ादर ने बुलाया है।' मैंने ताज्जुब से पूछा, 'आपके फ़ादर? वे मुझे क्या जानें?' वह बोली, 'मुझे कुछ नहीं मालूम, बुलाया है।' खैर, मैं गया। जानते तो नहीं थे, लेकिन उन्होंने बड़ी इच्छा प्रकट की कि मैं उस लड़की का 'ट्यूशन' कर लूँ। मैं तैयार नहीं हुआ। एक तो यह कॉलेज के नियम के खिलाफ़ था, दूसरे क्लास में 'डिसिप्लिन' रखने के हिसाब से भी वह चीज़ बड़ी खराब हो जाती है। लेकिन वह नहीं माने तो हारकर कभी-कभी कोच करने का वायदा करना पड़ा, इस विश्वास पर कि न वे किसी से कहेंगे और न नीराजना ही कही ज़ाहिर

करेगी।

"दास साहब ! मैं क्या बताऊँ, उसके बारे में ! कैसा तेज़ उसका दिमाग़ चलता था ! जिस चीज को भी पढ़ाता, लगता, वह पढ़े बैठी है। उसमें लिखने की शक्ति और प्रतिभा थी, उसे मैंने काफ़ी उभारने का प्रयत्न किया। अभी तक इतने लड़के-लड़कियों को पढाने का मौक़ा आया है, लेकिन उतनी इण्टेलिजेण्ट लडकी मुझे नहीं मिली। जीवन-भर पढ़ते रहने के लिए उसके मन में बड़ा चाव था, बड़ा उत्साह ! मुझसे बहुत खुल गई थी। मैं हँसकर कहता, 'पढ़ ले, शादी के बाद तो इन किताबों में घुन लगेंगे और जो पढ़ा है, सब सड़ेगा।' वह कहती, 'मैं शादी करूँगी ही नहीं !' मैं बड़े ज़ोर से हँसकर कहता, 'सभी लड़कियाँ यों ही कहती हैं।' वह जवाब देती, 'देखिए, मैं कहीं भी नौकरी करूँगी और पढ़ूंगी !'

"हुआ ऐसा कि दूसरे साल भी टेम्परेरी ही रहा। उन दोनों ही साल मैंने उसे पढ़ाया। हालांकि हर क्षण मुझे अनुभव होता कि यह अलौकिक प्रतिभा विवाह के अग्निकुण्ड में झोंक दी जायगी। और वह स्वयं इतनी तेज़ है कि उसे पढ़ाने की ज़रा भी ज़रूरत नहीं है। उसकी एक-एक पग उन्नति को देखकर मुझे आत्मिक सन्तोष होता और ऐसा लगता जैसे उसे नहीं, यह सब प्राप्ति मुझे हो रही हो।

"बीच में मुझे यहाँ जगह मिल गई और मैं यहाँ आ गया। 'सेशन' खत्म करने के बाद वह इलाहाबाद चली गई, क्योंकि उसके फादर रिटायर हो गए। अब उसकी शादी का चक्कर आया। एक तो स्वतन्त्र रहकर पढ़ने की उसकी ही अदम्य इच्छा थी, फिर उसमें मेरी विद्रोहिणी शिक्षा। उसने सत्याग्रह कर डाला कि चाहे दुनिया इधर-की-उधर हो जाय, वह पढ़ेगी। एक पत्र लिखकर उसने मुझे बुला भेजा।

"मेरे सामने सारी परिस्थितियाँ दोनों ओर से रखी गईं। उसके माँ-बाप ने कहा कि मैं उसे समझाऊँ। और उसने रोकर बताया कि वह शादी किसी भी हालत में नहीं करेगी, फाँसी लगाकर मर जायगी, भाग जायगी,

भीख माँगेगी, चौका-बरतन करेगी या कोई दूसरी नौकरी करेगी और आगे पढ़ेगी। उसने यह भी बताया कि माँ-बाप ने साफ़ कह दिया है कि पढाने-लिखाने के लिए उनके पास एक भी पैसा नही है। कहाँ से लायें? रिटायर हो गए हैं। जो फण्ड मिला है उसे पढ़ाई में फूँक दें, तो शादी के लिए कहाँ से आएगा? लड़के वाले अनाप-शनाप माँगते हैं। फिर दूसरे बच्चे भी तो है। मैंने पूछा, 'सच बताओ, नीरा! तुम सचमुच पढ़ना ही चाहती हो या शादी किसी और वजह से नहीं करना चाहती?' वह रो पड़ी, शायद उसे मुझसे ऐसी आशा नहीं थी। रोते हुए उसने कहा, 'आपकी भी इच्छा नहीं है, तो नहीं पढ़ूँगी। जो आदमी नहीं जानता हो, उससे कुछ कहा भी जाय!' मैं पिघल उठा, वह मेरे ऊपर इतना विश्वास करती है और मैं मूर्ख यों धोखा दे रहा हूँ, सोचकर मन उच्छ्वास से भर गया। मैंने पूछा, 'पढ़कर क्या करोगी?' आँसुओं में नहाई लाल आँखो से उसने मुझे देखा, 'क्या करूँगी? क्या होता है पढ़कर? भाड़ में जाऊँगी, टीचर हो जाऊँगी और अपनी जिन्दगी को रोऊँगी।' 'यह मतलब मेरा नहीं भाई!' मैंने उसे समझाया कि यदि वह बुरा न माने, तो मैं उसे पचास रुपये महीने के हिसाब से दे सकता हूँ। जब सुविधा हो वह लौटा दे। वैसे लौटाने की मुझे अधिक इच्छा नहीं है। वह झिझकी, प्रश्न आया—माँ-बाप कैसे स्वीकार करेंगे, और लोग क्या कहेंगे? हमने तय किया कि वह अभी से बताने लगे कि उसने एक खास 'स्कालरशिप' के लिए 'एप्लाई' किया है। फिर पचास रुपये चुपचाप मिल जाया करेंगे। बस क़िस्सा यह है।"

उसने सारा किस्सा इस तरह जल्दी-जल्दी बता डाला, जैसे किसी रूखे और असफल उपन्यास का कथानक बता रहा हो, और बाक़ी कॉफ़ी को एक ही घूंट में समाप्त करके उसने कहा, "और आज तक कोई चिट्ठी नही, पत्री नहीं, आज तक के सारे रुपये लौट आए हैं। ज़रा-सा संकेत तो देना ही चाहिए था।"

"वही पुराना क़िस्सा!" मिसेज़ दास ने कहा।

"लड़की !" और कैप्टन दास इतने ज़ोर से हँसे कि पूरा कमरा गूंज गया। वह और मिसेज़ दास आश्चर्य मे उसकी ओर देखने लगे। उन्होंने कहा, "एक लड़की ने तुम्हारे रुपये लौटा दिए और तुम मरे जा रहे हो, भीग रहे हो, भूखे रह रहे हो और यों आवारा की तरह भटककर जान दे रहे हो !" वे दुबारा और भी ज़ोर से हँसे और बोले, "तुम भी मिस्टर कुमार ! आदमी मुझे काफ़ी ऊँचे लगे। आप सिर्फ़ यह आत्महत्या इसलिए कर रहे है कि एक लडकी ने आपके रुपये लौटा दिए हैं !" फिर गम्भीर होकर उन्होंने एक बार मिसेज़ दास की ओर देखा और ऐश-ट्रे में रखी जली दियासलाई की सीक को उसी में तोड़ते हुए कहा, "तुम जानते हो, नीत्शे ने औरत के बारे मे क्या कहा है ! शेक्सपियर की लाइनें तो याद हैं, 'फ्रेलिटी दाइ नेम इज़ वूमन' मिस्टर ! जिसे आप जिन्दगी और मौत का सवाल समझते है, वह लडकियों के लिए एक खेल है—समझे ? शॉ ने इन्हें प्रकृति का भेडिया बताया है ! वह लड़की क्या, जिसने दो-चार की ज़िन्दगियाँ न ख़राब कर दीं।"

"लेकिन···लेकिन विश्वास भी तो कोई-चीज़ है !" जैसे हारकर घिरे हुए खिलाड़ी ने आख़िरी दाँव लगाया।

"विश्वास ! विश्वास स्त्री का जाल है, जिसमें वह आपको बाँधती है। विश्वास बिल्ली के पजों की गद्दियाँ हैं, जहाँ उसके नाखून छिपे रहते हैं। आप कहेंगे, सभी औरतें एक-सी नहीं होती। पर मैं कहता हूँ, छोटा-बडा, काला-सफेद होने से कुछ नही होता, सभी बिल्लियों के पैरों में गद्दियाँ होती हैं और उन्हीं के नीचे उनके नाखून होते हैं। औरत आपको एक गाल पर चूमेगी और दूसरे ही क्षण उस पर चाँटा मारेगी—क्यों और क्या की तो वहाँ जगह ही नहीं है। रीज़न—विवेक तो औरत की दुनिया में है ही नहीं। तुम भी किस चक्कर में पड़े हो, मिस्टर कुमार ! उसे कोई और मिल गया होगा और उसने तुम्हारे रुपये लौटा दिए। इसमें इतनी परेशानी की क्या बात है ?" बड़ी आसानी से कैप्टन दास ने कहा।

मिसेज़ दास चुपचाप उठकर चली गई।

और सच ही उसे ऐसा लगने लगा कि कितना बड़ा बेवकूफ़ है वह ! ज़रा-सी बात पर अपनी तन्दुरुस्ती खराब करने पर तुल गया है। यह ठीक है कि कैप्टन साहब की बातें उसकी आस्था को पूरी तरह नहीं झकझोर पाईं, लेकिन उसे यह लगने लगा कि रुपये लौटा देना कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण बात नहीं है, जिसके लिए इस तरह रोया और परेशान हुआ जाय। हो सकता है, कोई विशेष कारण हो, पत्र आता हो या समझौता ही हो गया हो ! मगर···

और रात को उसने थोड़ी ब्रांडी ली—भीगने से कहीं तबियत खराब न हो जाय !

बस पर चढ़ने से पहले एक बार उसने फिर तार के फार्म को जेब से निकालकर देखा—हाँ, आज की ही तारीख तो है—"२५ को सुबह पहुँच रही हूँ—नीराजना।"

ऊँची-नीची भूमि पर झूमती-झामती बस जब देहरादून की ओर दौड़ी, तो जिज्ञासा और उत्सुकता के मारे उसका बुरा हाल था। इच्छा होती थी, इस बस के और अपने शरीर के सब बन्धनों को तोड़-फोड़कर वह वहाँ पहुँच जाय और पूरी बात जान ले—वह यहाँ आ रही है, क्यों आ रही है? पहले किसी पूर्व-सूचना या समाचार के बिना रुपये भेज दिए और ये दस-बारह दिन कैसी बेचैनी से वह काट पाया था। ऊपर से वह निश्चिंत था, लेकिन उसके भीतर कोई था, जो बैठा दिन-रात नीराजना के पत्र की प्रतीक्षा किया करता था। लेकिन कुछ नहीं आया। अब अचानक तार आया तो वह बुरी तरह चौंक गया। हो क्या रहा है उसे? किसी के साथ आ रही है या अकेली?—कहीं···? लेकिन इस 'कहीं' का उत्तर, खिड़की के सहारे बैठकर अन्धाधुंध सिगरेट फूंकने, करवट बदलने—किसी से नहीं मिला। हाँ, आसपास के रेलिंग और पहाड़ सरकते रहे।

देहरादून के प्लेटफ़ार्म पर खड़े होकर उसने अपने-आपको काफ़ी गम्भीर बना लिया था, जैसे उसे बिलकुल भी चिन्ता न हो। वह तो यों ही मटरगश्ती करने चला आया है। वह पुल के पास खड़ा होकर पूरी रेल को देखता रहा। अचानक जब 'इण्टर क्लास' के एक डिब्बे से, आँखों पर काला चश्मा और हाथ में पर्स लिये, गहरे पीले रंग की जार्जट की साड़ी में, इधर-उधर जैसे किसी को खोज रही हो, नीरा उतरी, तो उसकी इच्छा हुई, दौड़कर वहाँ पहुँच जाय—नीरा तुम आ गईं! लेकिन तुम कितनी बदल गई हो···!

आगे नीरा और पीछे चमड़े का बक्स लादे कुली, दोनों चले तो उसने पीछे से आकर धीरे से कहा, "कहिए, आप आ गईं!"

नीरा चौंकी और एकदम उसकी ओर मुड़कर देखा—एक तरह खिल उठी—"अरे, प्रोफ़ेसर साहब, आप यहाँ आ गए!"

वह वैसे ही रहकर, बिना उधर अधिक झुकाव दिखाए प्लेटफ़ार्म से निकलते हुए बोला, "सोचा, तुम न जाने कहाँ-कहाँ भटकोगी, पहली ही बार आ रही हो न!"

उसके स्वर से ज़रा चौंककर नीरा ने उसके चेहरे की ओर देखा, मुँह से निकला, 'जी' और वह सहम गई। 'चेकर' को टिकट देकर पर्स बन्द करते हुए उसने पूछा, "आपको तार कब मिला?"

"सुबह!" मशीन की तरह उतार-चढ़ावहीन स्वर में उसने कहा। उसने इशारे से सन्दूक बस पर रखवा दिया, कुली को पैसे दे दिए।

"आपने आखिर यहाँ तक आने का कष्ट क्यों किया?" इस बार नीराजना ने थोड़ा मुस्कराकर चश्मे की बगल से देखा।

"यों ही, सोचा, बेकार भटकोगी ही तो न?" उसने अनुभव किया कि वह ज़रूरत से अधिक रूखा हो गया है। कुछ नम्र स्वर में उसने पूछा, "रास्ते में कोई तकलीफ़ तो नहीं हुई, क्या खाया-पिया?"

"हरिद्वार में नाश्ता तगड़ा लिया था।" वह बोली। बस के पास ही दोनों चहलक़दमी करते रहे।

"जगह तो वहुत सुन्दर है इधर की।" कुछ मौन रहने के बाद नीरा बोली।

"अच्छी लगी ?" चेहरे का भाव देखने के लिए उसने नीरा के मुँह की ओर देखा।

"बहुत !" फिर दोनों टहलते रहे। ऐसा लगा, जैसे बातचीत करने के विषय एकदम समाप्त हो गए हों।

"घर पर तो सब ठीक हैं न ?" फिर बात घिसटी, जैसे लाठी से कमर टूटा साँप फड़ककर सरकने की कोशिश करे।

"हाँ, सब ठीक ही है।" बड़े अनमने स्वर में एक निश्वास छोड़कर वह बोली। समझ वह भी गई कि इधर-उधर की सब बातें सिर्फ़ इसलिए हैं कि वह पूछना चाहता है—"कहो, तुम कैसे आई ?"

रवि को स्वयं बड़ा आश्चर्य था कि वह बता क्यों नहीं रही है। अब बातचीत के प्रति उसकी ज़रा भी इच्छा नहीं थी, लेकिन एकदम चुप हो जाना भी बड़ा दम घोटने वाला था। एक-एक कर वह कुछ-न-कुछ बोलते रहना चाहता था, ताकि उसकी स्थिति का कुछ तो पता चले। वह बोला, "चाय पिओगी ? नाश्ते से क्या होता है ?"

"सुनते है, खाना खाने से पहाड़ों पर चक्कर आ जाते हैं ?" इस बार ज़रा झेंपकर वह मुस्कराई, जैसे कोई अपनी बेवकूफ़ी की बात बता रही हो।

"तो यह खाना थोड़े ही है !" उसने चाय के लिए कह दिया। दोनों टहलते रहे। चाय आई, तो बस में अपनी-अपनी सीटों पर बैठकर चाय पीने लगे। साथ में टोस्ट थे।

उसे बड़ा आश्चर्य था, इन्दौर की दबी-ढकी, सीधी-सादी लड़की एकदम इतनी 'फॉरवर्ड' कैसे हो गई ! सबसे अधिक ताज्जुब तो उसके इस तरह अकेले चले आने पर था। घर वालों ने क्या कहा होगा ! यदि यह भावना कि जब वह स्वयं बताना ही नहीं चाहती, तो मैं क्यों पूछूँ, उसे न रोकती, तो शायद वह उसे रेल से उतरने पीछे देता, यही प्रश्न

सबसे पहले पूछता। वह रह-रहकर विस्मय से नीरा को देखता, इसे नीरा ने भी लक्ष्य किया।

अपने-आपको एक रहस्यमय आवरण में रखने के एक विचित्र आनन्द से नीरा मन-ही-मन खुश थी। साथ ही वह यह भी अनुभव कर रही थी कि इनके भीतर उथल-पुथल मच रही होगी और ऊपर से कैसे शान्त हैं! टोस्ट खाना छोड़कर, कुटिलता से हँसकर उसने पूछा, "आप बार-बार मुझे क्या देख रहे हैं?"

"देख रहा हूँ, इलाहाबाद में तो पूरी 'फिल्म ऐक्ट्रेस' बन गई हो। बिलकुल चारों तरफ़ से मेम साहिबा लग रही हो—घरवाले नहीं कहते कुछ?" उसे प्रसन्नता हुई कि उसने घरवालों की बात शुरू की। अब शायद वह कुछ बताए। वह चाय पीता रहा।

अपनी चाय ख़त्म करके प्याला रखते हुए वह बोली, "हूँ, घरवाले! घरवालों को अपनी ही चिन्ता से फ़ुरसत नहीं है।"

फिर दोनों चुप हो गए। चाय वाला ट्रे उठा ले गया।

देहरादून के बाज़ारों के बाद कोठी-बँगले अब पीछे छूटने लगे थे और सड़क के सामने ऊँचे-ऊँचे पहाड़ सीना ताने खड़े थे।

"त्रिवेन्द्रम् से कन्याकुमारी जाने वाली सड़क पर भी बिलकुल ऐसा लगता है, जैसे हम देहरादून पहुँच गए हों।" वह बोला।

"आप तो खूब घूमे हैं, मैंने ज़िन्दगी में पहाड़ ही हरिद्वार में देखे।" बाहर देखती हुई वह बोली। उसने एक दबी साँस छोड़ी।

एक गाँठ थी, जिसे कोई नहीं छूना चाहता था। हर बात पर वे अनुभव कर रहे थे, जैसे मुख्य विषय को वे टाल रहे है, पहले कौन बोले! आख़िर रवि से नहीं रहा गया—पूछ ही लूँगा, तो कौन आफ़त आ जायगी! जब बस 'टोल-टैक्स' देने के बाद आगे बढ़ी, तो डिब्बे से सिगरेट निकालकर अत्यन्त व्यस्तता से, जैसे वह कोई निहायत ही महत्त्वहीन बात पूछ रहा है, उसे जलाते हुए पूछा, "मुझसे कोई ख़ास काम था?" वह साँस रोककर दोनों हाथों की आड़ में जलती दियासलाई

की लौ का अपलक देखता रहा—खूब सचेत !

इस बार फिर नीरा ने गरदन घुमाकर घूरा। वह खुद भी उसी भाव से बाहर देखती हुई बोली, "क्या हर आदमी काम से ही आता है ? आप मसूरी रहें, कोई आदमी मसूरी घूमने आता है और आप मुझसे पूछते है, कोई ख़ास काम था ?"

"लेकिन ये छुट्टियाँ तो नहीं है !" उसने सन्तोष की साँस ली, लेकिन मन-ही-मन उलझन और प्रश्न उछल-कूद मचा रहे थे।

"कॉलेज में हड़ताल है !" और वह बस की खिड़की पर रखी बाँह पर ठोडी रखकर बाहर देखने लगी, जैसे बाहर के दृश्यों में उसे इन बातो से अधिक आनन्द आ रहा हो।

नीरा का यह रुख़ उसे ज़रा भी पसन्द नहीं आया। वह चुप हो गया। सड़क मिनट-मिनट पर मोड़ लेती ऊपर चढ़ रही थी और 'जूँ-जूँ' करती बसें और कारें आगे-पीछे भाग रही थीं। कभी-कभी एकाध हार्न गूँज उठता था। हर पहाड़ के गले में ऊपर-नीचे सड़क के लच्छे पड़े दिखाई दे रह थे। बिलकुल सामने वाली सीट पर भूतनी के-से बिखरे बालों वाली एक लड़की साड़ी और आधे फुट खुली कमर दिखाती, चुस्त ब्लाउज़ पहने थी। उसकी बग़ल में एक अँग्रेज़ बुढ़िया थी। सब अपने-अपने में मस्त थे। सादा चश्मे पर हरे अटैचमैण्ट चढाए पट्टीदार कुरता पहने एक सज्जन ज़रूर सबको नम्बर से निरख-परख रहे थे।

एक जगह मोटर घूमी तो नीरा के चेहरे पर धूप आ गई। उसने सिगरेट की राख खिडकी से बाहर फेंकने के बहाने झुककर देखा, चश्मे के पीछे उसकी आँखें बन्द थीं।

"रात को सोई नहीं थीं ?" उसने पूछा।

"नहीं, मुझे चक्कर आ रहे हैं।" बिना ज़रा भी हिले-डुले उसने कहा। वह अपना ध्यान सामने के पहाड़ों, सड़क और सफ़र से कहीं दूर ले जाकर उठती हुई उबकाई को रोकना चाहती थी, लेकिन जैसे उसकी पलकों के ऊपर उन्हीं पहाड़ों की छायाएँ मंडराने लगती थीं। रबर के

खिंचे धागे की तरह मन ज़रा भी छूटता, तो यहीं भाग आता।

अपनी जेब तलाश करने के पश्चात् उसने पूछा, "किसी से इलायची पूछूँ ?"

उसने हाथ के इशारे से रोक दिया, "नहीं।"

फिर दोनों चुप हो गए।

अचानक रवि ने कहा, "उठो !"

तन्द्रा से जैसे चौंककर उसने देखा—बस 'किक्रेप' पर आ खड़ी हुई थी। कुलियों और सवारियों के वार्तालाप से वातावरण गूँज रहा था। एक तरफ़ ऊँचे पहाड़ और दूसरी तरफ़ ढालू सड़क। वह उतरी तो धरती डगमगाती लग रही थी।

कुली को सामान सौंपकर, रास्ता बताकर वे चले। आश्चर्य से आँखें फाड़े वह कभी ऊपर-नीचे जाने वाली सड़क को देखती, कभी कुलियों को और कभी उस बस स्टैण्ड को। लोग आगे-आगे चल दिए थे।

'केमिल्स बैक रोड' जाने के लिए सड़क काफ़ी चढ़ाईदार थी। ज़रा-सी देर में ही वह हाँफने लगी। उसके लिए कभी-कभी वह रुक जाता। इधर-उधर देखती वह चढ़ती रही। सुस्ताने के लिए एक जगह रुककर नीचे भीड़ को देखते हुए नीरा ने कहा, "मुझे ऐसा लगता है, आपको मेरा आना अच्छा नहीं लगा !"

इच्छा हुई कि इस बात का जवाब ही न दे, क्योंकि अब अपनी ओर से बोलने या बात निकालने के सारे प्रयत्न उसने छोड़ दिए थे। थोड़ी देर चुप रहकर वह बोला, "ऐसी तो बात नहीं है। शायद थक ज़्यादा गई हो, आओ अच्छी तरह बैठ लें।"

रास्ते-भर भयंकर चुप्पी।

बँगले पर आकर कैप्टन साहब से रवि ने उसका परिचय कराया तो उन्होंने अपना चश्मा उतारकर काफ़ी ग़ौर से देखा। नीरा थक ज़रूर गई थी, लेकिन नाश्ता करते ही उसकी सारी थकावट दूर हो गई।

साढ़े चार बजे थे, दोनों घूमने निकल आए। हर नई जगह और चीज़ को देखकर रवि की ओर वह इस तरह देखती, जैसे उस स्थान या चीज़ का नाम पूछना चाहती हो; लेकिन उसके चुप, गम्भीर और जड़ चेहरे को देखकर सहम जाती।

लाइब्रेरी से दोनों 'चर्लिविली' होटल वाली सड़क पर आ गए। यह सड़क बिलकुल समतल, चिकनी और पहाड़ से लगी-लगी उसके साथ मोड़ लेती इस तरह चली गई थी, जैसे बाद में चिपका दी हो। एक बड़ा मोड़ पहाड़ के कटाव के साथ भीतर की ओर लेकर, सड़क फिर ज़रा सामने घाटी में आ गई थी और अब यह सडक इतनी मुड़ चुकी थी कि एक बड़े लम्बे-चौड़े गड्ढे के बाद बिलकुल सामने ही लाइब्रेरी दिखाई दे रही थी। यह गड्ढा पहाड़ की उस दरार से ही शुरू हुआ था, जहाँ से वे अभी आ रहे थे, और बाईं ओर खुलता-खुलता बिलकुल खुल गया था। सामने ऊँची-ऊँची पहाड़ों की चोटियाँ दिखाई दे रही थीं—एक के पीछे से एक झाँकती।

पहाड़ की ओट के कारण धूप इन पर ज़रा भी नहीं थी। सामने दूर चोटियों पर सुनहली धूप खेल रही थी। दो चोटियाँ बिलकुल पास-पास काफ़ी ऊँची खड़ी थीं। सड़क के मोड़ पर गड्ढे की ओर रखी बेंच पर बैठकर दोनों उन पहाड़ों को देखने लगे। वे पहाड़ बहुत पास होते हुए भी बड़े विरोधी थे। एक बिलकुल सूखे झाड़-झंखाड़ों से लदा, सपाट, और दूसरा हरियाली से बुरी तरह लदा। खेलती हुई धूप पहाड़ की मरोड़ों में नहीं जा पाती थी, इसलिए वहाँ छाया थी। ऐसा लगता था, दो मखमल के कपड़े पास-पास डाल दिये गए हों। और जहाँ-जहाँ मोड़ हैं, वहाँ उनके भीतर से निकलने वाली गहरी हरी चमक निकल आई हैं। हाथ में चश्मा लिये नीरा उसकी कमानी पकड़कर घुमाती रही।

दोनों मुग्ध देखते रहे, लेकिन दोनों एक-दूसरे की हरकत से सचेत।

"आप बहुत बदल गए हैं, प्रोफ़ेसर साहब!" नीरा बोली और बेंच

की बाँह पर धीरे-धीरे थपकी मारती रही। उसकी खुली आँखों में पानी छलछला आया था। मन में शायद कहने के लिए बहुत सी बातें उसके भीतर उमड़ रही थीं।

"अब प्रोफ़ेसर भी तो नहीं रहा।" ज़रा-सा उसके चेहरे की ओर देखा और संक्षिप्त-सा उत्तर देकर देखने में व्यस्त हो गया।

"सुनते हैं, यहाँ से सीधा इलाहाबाद तक का टिकट मिल जाता है। कल सुबह ही किसी को भेज दीजिए।" कुछ देर फिर चुप रहकर वह बोली।

"टिकट!" वह एकदम मुड़ा। नीरा ने चश्मा चढ़ा लिया था, लेकिन उसकी काँपती ठोड़ी, खिंचे होंठ, और फड़कते नथुने किस चीज़ की भूमिका हैं, इसे वह खूब पहचानता था।

"मैंने बड़ी ग़लती की, ज़बरदस्ती यहाँ चली आई।" और वह सिसकने लगी। रूमाल निकालकर उसने अपनी आँखों पर चढ़ा लिया।

रवि को उस समय खुद महसूस हुआ कि उसका व्यवहार नीरा के प्रति बड़ा ही उपेक्षापूर्ण रहा है—बिलकुल स्टेशन से ही 'बस' में, बीच-बीच में उसने बोलने की कोशिश ज़रूर की है, लेकिन यह दिखाते हुए, जैसे कोई ख़ास ज़रूरत न हो। यह ठीक है कि नीरा के पिछले व्यवहार ने उसके पखवारे की नींद, शान्ति और सन्तोष, सब ख़त्म कर दिए हैं, फिर भी उसे इतनी कमज़ोरी नहीं दिखानी चाहिए थी। आदमी को थोड़ा सहने और ऐक्टिंग करने की भी आदत हो। लेकिन घने बादलों और काले अँधेरे जैसी घुटती उदासी को वह क्या करे?

"मसूरी तुम्हें पसन्द नहीं आई?" उसने नीरा के कन्धे पर हाथ रखकर स्नेह से पूछा। "जी!" जैसे तड़पकर, नीरा ने रूमाल हटाकर लाल आँखों से उसे देखा—"ऐसी घुटन में कोई चीज़ पसन्द आ सकती है! इसी से बचने के लिए मैं यहाँ आई, और यहाँ भी यही आफ़त! आखिर आप लोगों ने सोचा क्या है? सीधे-सीधे ज़हर क्यों नहीं दे देते?"

चकित-सा उसकी ओर देखकर रवि बोला, "किस प्रसंग में ये सब बातें आप कह रही हैं ? आप लोगों में कौन-कौन आएगा ?"

"मुझे खूब मालूम है !" बिलकुल सामने स्थिर दृष्टि से देखते हुए नीरा ने कहा, "मुझसे आप नाराज़ इसलिए हैं कि मैंने आपके रुपये क्यों लौटा दिए ?"

प्रश्न फिर आत्म-सम्मान और अपमान का आ गया। अपने ऊपर चढ़ आती भावुकता पर अधिकार करके वह सँभलकर बैठ गया। इस 'पॉइण्ट' पर वह ज़रा भी नहीं झुकेगा। उसने दृढ़ स्वर मे कहा, "नीरा, तुम मेरी मेहमान हो। ऐसी कोई बात मैं नहीं कहना चाहता कि तुम बुरा मानकर जाओ। लेकिन भाई, बात यह है कि कोई अपना अपमान सह लेता है, किसी से नहीं सहा जाता। वैसे कोई किसी पर ज़बरदस्ती तो कर ही नहीं सकता, तुम्हें रुपयों की ज़रूरत नहीं थी, तो मुझे क्यों ज़िद हो ?"

"बस अपनी तरफ़ से बात देख ली और दूसरा चाहे भाड़ में जाय।" नीरा ने तुनककर कहा, फिर थोड़ी देर चुप रहकर बोली, "ज़बरदस्ती की बात होती, तो मैं पहले क्यों लेती, यह आपने सोचा ? आपकी समझ में यह बात नहीं आई कि जब आपके रुपये लौटाए, तो कम-से-कम गले तक पानी आ गया होगा।"

"हम भी तो सुनें, कैसा गले तक पानी था और वह इतनी जल्दी उतर भी गया कि आपको सैर करने की सूझने लगी !"

व्यंग्य को समझकर नीरा चुप रही। पलकें उठाकर एक बार उसे देखा, फिर जैसे एकदम बाजे के खिंचे तारों पर घूंसा मारा हो, बोली, "मेरी सगाई हो गई है !"

"सगाई ?" एकदम बुरी तरह चौंककर रवि अपने स्थान से थोड़ा उचक गया। उसने बिलकुल नीरा के चेहरे को पास से देखा ही नहीं, मज़ाक ज़रा भी नहीं। वह यों ही बैठा, फिर पीछे पीठ टिका ली।

"बहुत रोई-धोई, चीखी-चिल्लाई, फिर जब कोई नहीं माना, तो

बात सबको बतानी पड़ी । लेकिन उसी ग़लती में रुपये लौटाने भी पड़े ।"

वह बिलकुल चुप रहा, निश्चल ! उसने यह भी नहीं पूछा कि सगाई कहाँ हुई है, कौन हैं, क्या करते है, तुम्हारी क्या राय है ?

"और इस तरह इलाहाबाद में मेरी पढ़ाई बिलकुल ख़त्म हो गई ।" वह उसी भाव से कहती रही ।

सामने की धूप पहाड़ों के पार खिसक गई थी और पहाड़ों की छायाएँ काली पड़ने लगीं । साँझ की परछाइयाँ लम्बी होते-होते क्षितिज में लीन होने लगी थीं, जहाँ अँधेरे का ज्वार हिलोरें ले रहा था ।

"अब देहरादून आने का एक कारण यह भी है । आगे से मैं देहरादून में ही पढ़ूंगी । हालाँकि सुनते हैं, यहाँ लड़कियों का हॉस्टल नहीं है । और पूरी बातें अभी पता नहीं लगा पाई हूँ ।" बिना उसकी ओर ज़रा भी ध्यान दिये वह कहती रही ।

"हूँ !" जैसे किसी दूसरे लोक से उसके सूखे होंठों से निकला । उसकी आँखों की केन्द्रित चेतना जैसे फैल गई, दृष्टि में सूनापन हाहाकार कर उठा ।

"मैंने अपना जो रास्ता चुना है, उसमें आने वाली किसी भी बाधा से मैं समझौता नहीं कर सकती ।" पता नहीं नीराजना आज किस बहाव में बही जा रही थी ।

"बड़ा अच्छा है !" बड़ी कठिनाई से उसने निर्विकार भाव से कहा। उसकी अपलक खुली आँखों में सामने की ऊबड़-खाबड़, अँधेरे से भरी घाटियों की परछाइयाँ उतर आई थीं । अँधेरा घना हो गया था ।

इस बार नीरा ने एकदम उसकी ओर मुँह घुमाकर कहा, "फिर कभी इलाहाबाद जाने के लिए मैं यहाँ नहीं आई—समझे या और समझाऊँ ! आपको क्या है, आप तो ज़रा-ज़रा-सी बातों पर नाराज़ हो जाते हैं ! मुझसे भी तो पूछिए, मुझे कितना सहना पड़ा ।"

उसी समय एकदम सारी बत्तियाँ जल उठीं और नीरा ने देखा रवि की आँसू-भरी आँखों में दीपमालाएँ झलमला उठी।

किन्हीं रानी साहिबा को लादे एक शानदार रिक्शा पीछे से गुज़र गया, जिसे तीन कुली पीछे से धकेल रहे थे, दो आगे से खीच रहे थे।

लकड़हारा

लकड़हारा

"अम्माँ, क्या होती है शादी ?"

"कुछ नहीं होती, तू सो जा चुपचाप।"

"नहीं, अम्माँ बताओ !"

"तू सो जा, भागवान। ऐसे ही शादी होता है जैसे तेरी मास्टरनी मासी की हो रही है।"

रीता ने आँखें बन्द कर लीं और पास लेटी कान्ति ने जब उसे सोई समझकर थपकना धीरे-धीरे कम किया तो वह अचानक ही आँख खोलकर बोली, "अम्माँ, राजा ने अपनी लड़की का शादी लकड़हारे से क्यों कर दी ?"

एक क्षण को थपकता हाथ रुक गया और उसने भौंहें तरेरकर रीता को देखा—"कम्बख्त लड़की, सोती नहीं है, प्राण खा रही है।" पर फिर प्यार से समझाकर बोली, "बेटा, वह तकदीर को नहीं मानती

थी।" यह सोचकर कान्ति और भी झुँझला रही थी कि अब यह पूछेगी, तकदीर क्या होती है ?

तभी भागती-हाँफती सोमा ने आकर बड़ी मुश्किल से कहा—"भाभी, तुम यहाँ पड़ी सो रही हो, वहाँ भैया ने सारा आसमान सिर पर उठ लिया है। तुम्हारा नम्बर आ गया है कन्यादान का।"

"अब यह छोड़े भी !" कान्ति ने आँचल से उलझती रोता को बिस्तर पर पटका और कभी इस सन्दूक को खोला, कभी उसे बन्द किया और तब झींकते हुए सारे कपड़े तितर-बितर करके एक नीले मखमल का डिब्बा निकालकर लपकती हुई बाहर चली—"ले, अब मर पड़ी-पड़ी, जब से कह रहे थे, हाँऽ तो।"

माँड़े के नीचे शोभा बनारसी साड़ी-दुपट्टों में खूब दबी-ढकी बैठी थी। पीछे से पकड़कर बैठी नाइन बार-बार उसके सिर का कपड़ा खींचकर घूंघट बना देती और वह न जाने कैसे उसे पीछे खिसका देती। नाइन की इस हरकत पर उसके चेहरे की झुँझलाहट साफ़ हो जाती। पीछे से दादी और अन्य बड़ी-बूढ़ियाँ खुसुर-पुसुर करतीं तो नाइन फिर घूंघट खींच देती। उसका हाथ अपने हाथ में लिये खूब फूलों की झालरों से लदा, पूरा ताजमहल सिर पर बाँधे जसवन्त बैठा था। चमकती सुनहरी अचकन पर रोली-चावल गिर पड़े थे। सामने लटकती फूलों की मालाओं को उसने इधर-उधर कानों पर अटका लिया था। इन सब झाड़-झंखाड़ों में सिर्फ़ उसकी नाक ही चमक रही थी। दोनों ओर के पंडित आमने-सामने जमे बैठे थे और बीच में जलती आग में थोड़ी-थोड़ी देर बाद या तो चम्मच से घी या हवन-सामग्री डाल देते थे। शोभा की ओर वाले पंडित रामजीदास कभी-कभी जब मन्त्र भूल जाते तो ज़ोर से नाई के लड़के से कह उठते—"अरे सुम्मेरा, लकड़ी ला।" और वह आधा झुका सबसे बचता-सा लकड़ियाँ पास रख जाता। दोनों ओर के पण्डितों में अभी शास्त्रार्थ हो चुका था, और हारे हुए पण्डित रामजीदास बार-बार हवन-सामग्री में घी मसलते हुए डकरा उठते, "कैलाश बाबू,

बुलाओ बहू को भई, फिर फेरों का मुहूर्त निकट आ रहा है।"

कैलाश बाबू ऊपर लोहे के जाल पर लदकर झाँकती स्त्रियों को बार-बार क्रुद्ध दृष्टि उठाकर देखते। कान्ति पर उन्हें बहुत गुस्सा आ रहा था। ठीक वक्त पर न जाने कहाँ जाकर मर गई है। अपनी कीमती साड़ी की अगली पटलियों को चाल से धकेलती, कपड़े सँभालती, नाक तक घूंघट निकाले जब कान्ति पास आ गई तो कैलाश बाबू ने अपने दुपट्टे से उसके आँचल की गाँठ बाँधते हुए दाँत पीसकर कहा, "वक्त पर चली कहाँ जाती हो ?" लेकिन उनकी बात पंडितजी के मंत्रोच्चार में खो गई। मखमली डिब्बा झटके से बटन दबाते ही खुल गया। सँभालकर रखा हुआ सोने का हार, नीली साटनी पृष्ठभूमि में जगमगा रहा था।

"लड़की तेज़ है, जसवन्त के सारे दिमाग ठिकाने लगा देगी। देख लो, घूंघट नहीं कर रही, बार-बार सरका देती है।" बरातियों में से एक सूक्ष्म-द्रष्टा युवक ने दूसरे के कन्धे पर अपनी बाँह रखकर उसके कान के पास कहा।

"अबे, बी० ए० है, मास्टरनी है। कोई ऐसी-वैसी है। बड़े तीसमारखाँ बनते थे। अब बैठकर पढ़ाया करेगी बेटा को!" दूसरे ने आते ही जनवासे में घर के किसी बच्चे से लड़की के बारे में पूरी जानकारी ले ली थी, उसी आधार पर कुटिलता से हँसकर उसने कहा, "घर-भर के ऊपर रहती है।"

"अच्छा !" आश्चर्य दिखाकर पहला बोला, "ले, अब मरे बेटा जसवन्त।"

दोनों हंस पड़े। शेष सब भी मुस्कराए। शायद शोभा और जसवन्त ने भी उनकी बातें सुनीं, क्योंकि दोनों की निगाहें शील के नियंत्रण में मुस्कराती आपस में मिलती-मिलाती-सी उधर ही उठ गईं। जसवन्त ने आँखें भी निकालीं।

सफेद चादर पर घराती और बराती आमने-सामने बैठे थे। बराती लोग सामने पलंगों और मेजों पर सजाये हुए दहेज को देख रहे थे, या

निगाहें बचाकर घरातियों की स्त्रियों को घूरते हुए घर की स्थिति को भाँपने का प्रयत्न कर रहे थे । उनका ध्यान टूटता था उस समय, जब घर वालों की ओर से कोई चौड़े-चमकते थाल में चाँदी के वर्क लगे पानों का ढेर या सिगरेट की तश्तरी बढा देता, या अचानक आकर छाती पर इत्र की मालिश कर उठता । बरात के मुखिया मुंशी दयानाथजी और लडके के पिता बाबू ब्रजनारायणजी अपने दो-एक प्रमुख आदमियों के साथ लडकी वालों के कुछ खास आदमियो के बीच बैठे, अपनी ओर से लाये गए कुछ डिब्बे-डिबियों को खोल-खोलकर सजाते हुए रख रहे थे और धीरे-धीरे किसी अत्यत ही महत्त्वपूर्ण विषय पर बातें भी करते जा रहे थे । मुंशी दयानाथ अर्थात् चाचा के हाथ में दहेज की लम्बी-चौड़ी लिस्ट थी, जिसके एक-एक आइटम को, पन्ने की चाँदी की अँगूठी वाली झुर्रियोंदार उँगली रखकर वे पढते; फिर निगाह उठाकर उस वस्तु को नाक तक खिसके चश्मे में ऊपर से ग़ौर से देखते और तब सोचते-से दूसरी चीज़ की तरफ उँगली सरकाते ।

शोभा को ऐसा लगा रहा था जैसे एक भँवर उसके दिमाग में लगातार चक्कर मारे जा रहा हो, घूमे जा रहा हो । उसके माथे पर पसीने की बूंदें झलक आई थीं । बाहर नेपथ्य मे ऊपर की गोख से 'किड़-किड़ धम्' करके नगाड़ा और अपनी कर्णकटु आवाज़ में नफीरी बज रहे थे । नीचे खड़े ताशे वालो से शायद उनकी होड हो गई थी । कभी-कभी अवचेतन में बैण्ड की आवाज़ भी आ जाती थी । ऊपर स्त्रियाँ शोभा के अलबेले दूल्हे और बरातियों को लेकर गालियाँ तो नही गा रही थीं, लेकिन जो कुछ भी वे अपनी-अपनी अलग-अलग आवाज़ों में गा रही थीं, उसे सुन-सुनकर शोभा को बडी विरक्ति हो रही थी । यह कम्बख्त नाइन और उसे इस तरह भींचे बैठी है जैसे वह न जाने कहाँ भाग जायगी । सामने पंडितजी अपने बँधे-बँधाये स्वर में मंत्रों का वमन किये जा रहे थे । कितना शोरगुल, हल्ला-गुल्ला, जैसे कहीं चढ़ाई हो रही हो या कहीं बम गिर गया हो । उसकी तबियत जब बहुत घबरा जाती तो

मन यह करता, यह लदे हुए कपड़े-गहने सब फेंक-फाँककर ऊपर भाग जाय। कहाँ आ फँसी !

"लेकिन बाबू शंकरलालजी, यह तो सब आप अपनी लड़की के लिए दे रहे हैं, इसमें हमारे ऊपर क्या अहसान है ? क्यों पेशकार साहब, है न बात ?" बाबू ब्रजनारायण ने दहेज की लिस्ट पर दो-तीन बार उँगली ठोककर समर्थन के लिए पेशकार द्वारकाप्रसाद की ओर देखा।

"भई, यह बात तो ठीक है पर···" पेशकार इतने गम्भीर मामले में अपनी राय ज़रा गम्भीरतापूर्वक ही देना चाहते थे। वे ही दोनों पक्षों का सम्बन्ध कराने वाले थे, इसलिए भी उनकी स्थिति नाज़ुक थी।

"पर-वर क्या, बाबू द्वारकाप्रसादजी, आप साफ़ क्यों नहीं कहते ? मैंने क्या कहा था ?" ब्रजनारायणजी लट्ठे के चिकने चूड़ीदार पाजामे वाली टाँगों को एक तरफ मोड़कर बैठ गए और ज़ोर से जाँघ पर हाथ मारकर बोले। उनकी सुरमेदार आँखों की लाल डोरियों का फैलाव बढ़ गया।

"तो हुज़ूर, मैं अहसान कब कर रहा हूँ ? मेरी इतनी जुर्रत कैसे हो सकती है ?" निहायत ही खुशामदी लहजे में शंकरलालजी ने एक सधी चाल फेंकी।

"इन बातों से काम नहीं चलेगा जनाब !" ब्रजनारायणजी ने बेमुरव्वती से पंजा हिलाकर कहा और परेशानी से पेशकार की ओर झुके—"पेशकार साहब, मैं इसीलिये कहता था कि बातें बिलकुल साफ होनी चाहिये। इसी घपले की वजह से मैंने मुंसिफ तेजबहादुर की शादी लौटाई नहीं ? हालाँकि एक कार और नकद दस हज़ार का इशारा उन्होंने दिया था। मुझे ऐसा मालूम होता···" उन्हें बहुत ज्यादा झुँझलाहट पेशकार पर इसलिए हो रही थी कि उनके इतने अहम मामले पर ज़रा भी ग़ौर न करके वह मज़े में ताली के गुच्छे में पड़ी दाँत कुरेदनी से मुँह फाड-फाड़कर दाँत कुरेदे जा रहा था। कुछ भौंहें तान-कर, माथे पर बल डालकर, चेहरा गम्भीर बनाकर सुनता तो लगता कि

हाँ, कुछ सुन रहा है।

फिर आखिर झुँझलाकर ब्रजनारायणजी उठ ही खड़े हुए, और नाक से उतरती शराब के हल्की गंध वाले फुफकारे छोड़ते हुए पेशकार के कन्धे को छूकर बोले, "ज़रा पेशकार साहब, सुनिये इधर, आप भी थोड़ी तकलीफ कीजिये, मुंशी दयानाथजी !"

बाबू शंकरलालजी बौखलाए-से अपलक शून्य दृष्टि से निर्लक्ष्य कुछ सोचते हुए दोनों को जाते हुए देख रहे थे। उनका दिल धड़क उठा। फिर वे धीरे से खिसककर मुखियाजी के पास आ गए। सारे वातावरण में यह बात अनजान रूप से फैल गई कि कुछ बहुत ही महत्त्व-पूर्ण विषय पर बात अटक गई है। दोनों ओर के प्रमुख व्यक्ति न केवल बात की तह तक पहुँच जाने को उत्सुक होकर अपनी-अपनी नाकें उठाए वातावरण को सूँघ रहे थे, बल्कि मन-ही-मन अपने को अपमानित भी अनुभव करना उन्होंने शुरू कर दिया था कि उन जैसे ज़रूरी आदमी से सलाह नहीं ली जा रही है। बीच में चलते एक बड़े हुक्के की निगाली पर मुड़ी हुई उँगली लगाकर गूढ़ रहस्यमय दृष्टियों से वे इधर-उधर घूरते और कश खीचकर हुक्का अगले को दे देते।

"हम तो पहले ही जानते थे कि कुछ-न-कुछ गड़बड़ होगी ऐन मौके पर !" कन्हैयालाल पोस्टमास्टर ने स्थिति पर अपनी राय दी।

"अरे, होगी नहीं, अब देख लो हवाइयाँ उड़ रही हैं या नहीं !" दाऊदयाल हैडक्लर्क बोले।

पूरा पंजा फैलाकर वकील शिवसागर ने कहा, "भाई साहब, ये काम चार आदमियों की सलाह से होते हैं, यह नहीं कि बाला-ही-बाला सब-कुछ कर डाला और किसी को कानों-कान खबर नहीं।" असल में उनकी अपनी लड़की भी काफी उम्र की हो गई थी। उन्हें अफ़सोस यह था कि अगर उन्हें पहले पता लग जाता तो वे इस लड़के को कैसे भी नहीं जाने देते।

"अरे साहब, सलाह-मशविरे की तो आदत ही नहीं है हमारे

शंकरलाल में। अपने को न जाने कहाँ का अक्लमंद समझते हैं।" पोस्टमास्टर चिंता से बोले।

"अक्लमंद समझते हैं तो लो नतीजा, वह तो कहावत है न कि...."

दूर से इशारे से द्वारकाप्रसादजी ने शंकरलालजी को बुलाया। एक ने दूसरे को छूकर सन्देश शंकरलालजी तक पहुँचा दिया। धड़कते हुए वे उठकर भीतर पहुँचे।

उन्हें देखते ही ब्रजनारायणजी बोले, "भाई शंकरलालजी, हमारे साथ तो बहुत ही ज़बर्दस्त धोखा किया गया।" उन्होंने अपनी दोनों तेज़ आँखे उनके चेहरे पर अड़ा दीं और अपनी बात जारी रखी—"और मैं तो साफ़ मुँह पर कहता हूँ कि अगर यह पेशकार साहब बीच में न होते तो मैं हरगिज़-हरगिज़ इस रिश्ते को मंजूर न करता। और पेशकार साहब से भी मुझे ऐसी उम्मीद नहीं थी कि हमारे और इनके इतने खानदानी ताल्लुक़ात होते हुए भी यह हमें इस तरह...।" अगली बात कहना उन्होने ज़रूरी नहीं समझा और एक गहरी साँस लेकर दोनों हाथ फैला दिए।

"सो तो ठीक है...सो तो ठीक है आपका...।" शंकरलालजी हकलाकर रह गए। उनकी निगाह धरती से उठ ही नहीं रही थी। उन्होंने बड़ी आजिज़ी से सबके चेहरों की ओर देखा।

"सो ही तो ठीक नहीं है।" एक-एक शब्द पर ज़ोर देकर ब्रजनारायणजी ने उसी बेबाक़ी से कहा—"अगर यही सब मालूम होता तो मैं यहाँ झख मारने आता ही क्यों?" आप पेशकार साहब से पूछ लीजिये, सिर्फ़ इनकी वजह से मैंने मुंसिफ़ तेजबहादुर की शादी लौटाई या नहीं? कार और नक़द दस हज़ार तो वे अपने मुँह से कहते थे, लेकिन मैंने कहा चलो हटाओ, खानदान अच्छा है। लेकिन अगर मुझे यह मालूम होता तो..." उन्होंने नाक से फुफकार छोड़ी।

तभी किशोर ने आकर कहा, "बाबूजी, पंडितजी कह रहे हैं कि आप लोग चलें तो फेरे शुरू हों, मुहूर्त निकला जा रहा है।"

"पहले यह मुहूर्त तो तय हो जाय !" ब्रजनारायणजी ने विद्रूप से सिर हिलाकर कहा।

शंकरलालजी एकदम हताश-से हो उठे, घिघियाकर बोले, "बाबू ब्रजनारायणजी, अपने बस तो मैंने कुछ कर उठा नहीं रखा, जो कुछ भी बन पड़ा है किया···"

"हम कब कह रहे हैं कि नहीं किया? मगर मैं क्या करूँ? लड़के को तो लडकी चाहिए, लेकिन बाप भी तो किसी उम्मीद पर इस दिन की राह देखता है? और बरतन-कपड़ा, बरतन-कपडा यह आप जो घंटे-भर से रटे जा रहे है, इसका क्या मतलब? आपने लड़की को पढ़ाने में खर्च किया या यह सब जो दिया होगा सो अपनी लडकी को दिया होगा, कुछ हमें आप दान तो दिये नही दे रहे !" बिफरकर ब्रजनारायणजी बोले—"बाबू शंकरलालजी, साफ बात सुन लो, अब भी कुछ नही बिगड़ा है। मेरे लडके को लडकियाँ बीस हैं। आप बखुशी लड़की को रखिए···।"

और शंकरलालजी के कानों को विश्वास नहीं हुआ, जैसे आसमान फट पडा। वे कुछ कहें तब तक पेशकार उन्हें बाँह पकडकर उठाते हुए एक ओर ले गए, और दरवाज़े के पास ऊपर की चौखट को छू-छूकर कुछ बताते रहे।

जब तीसरी बार भेजे गए आदमी को भीतर से डाँटकर भगा दिया तो जैसे लोगो की उत्सुकता का बाँध टूट गया। एक बाहर जाता, दूसरा भीतर—पता नहीं क्या हो रहा है। सिर्फ़ लोग अनुमान-भर कर सकते थे। कभी ज़ोर-ज़ोर से भीतर बातें करने की आवाज़ें सुनाई देतीं। बारह बजे के फेरे थे और अब ढाई बज रहा था। लोग बार-बार जँभाई लेते, बैठकें बदलते, और इधर-उधर देखकर अपनी झुँझलाहट व्यक्त करते ऊँघ जाते। लोग दीवारों के सहारे उठगे हुए थे। बच्चे वहीं फ़र्श पर ही फैल-फैलकर सो गए थे। ताशे, नफीरी और नगाड़े सब चुप हो चुके थे। दोनों पंडित बैठे-बैठे बार-बार मुँह फाड़ रहे थे। उनमें एक तो ज़रा-सी देर को उठकर अपनी धूम्रपान की तलब को शान्त करता पाँव

भी सीधे कर आया था। बड़ी-बूढ़ी और अधेड़ औरतों की किचपिच ऊपर चालू थी। बेटी के भाग्य को कोसती हुई माँ दो-तीन बार रो भी चुकी थी। शेष स्त्रियाँ अपने-अपने अनुभव में आई ऐसी ही घटनाओं को सकारण-सविस्तार एक-दूसरी को सुनाए जा रही थीं। बहू-बेटियाँ कोई गोदी के बच्चों का बहाना करके या कोई वैसे ही यह कहकर कि 'जब फेरे पड़ें तो हमें जगा लेना' इधर-उधर एक-दूसरी के ऊपर लदकर सो गई थीं।

बिलकुल अचल और निश्चल बैठे थे जसवंत और शोभा। एक-दूसरी की बात कम सुनती और दूसरी की बात ख़त्म हो जाने पर अपनी बात शुरू कर देने को उत्सुक स्त्रियों की किचर-पिचर उसके कानों में भन्ना रही थी। जो कुछ आँखों के आगे दिखाई देता था और जो नहीं दिखाई देता था, सब शोभा की समझ में आ रहा था। तीन-चार बार उसकी आँखों में पानी भी भर आया। और अपने हृदय के उद्वेग तथा उमड़ती रुलाई को उसने दाँत भीचकर, होठ काटकर रोक लिया। पता नहीं क्या होने को है!

तभी भीतर का वार्तालाप एकदम कोलाहल के रूप में बदल गया, और कई आदमियों के रोके जाने पर भी बाबू ब्रजनारायण अपनी काली अचकन के फटने की चिंता न करके किवाड़ खोलकर चीख़ते बाहर झपटे, "भाड़ में ले जाइए अपना दहेज और चूल्हे में ले जाइए अपनी लड़की। यहाँ शादी नहीं होगी, नहीं होगी! मैं भी देखता हूँ कौन कुँवर आपकी लड़की को ब्याहने आता है? कमीने, ज़लील, बद्ज़ा··· ।"

उनके पीछे दोनों हाथों में अपनी गोल टोपी लिये गिड़गिड़ाते-रोते शंकरलालजी थे—"बाबूजी, मेरी पचपन साल की आबरू मिट्टी में मिल जायगी, बाबूजी आप जैसे कहेंगे मैं वह करूँगा। बात तो सुनिए, बात तो सुनिए बाबूजी, यह मेरी इज्ज़त आपके क़दमों में है—बाबूजी!"

एकदम जैसे भूचाल आ गया हो या कहीं ज्वालामुखी फट पड़ा हो।

सब उठ-उठकर खड़े हो गए। चारों तरफ़ चीख़-पुकार मच गई। बच्चों ने अचानक नींद टूटने की घबराहट से और स्त्रियों ने जान-बूझकर रोना-चीखना शुरू कर दिया। डाका पड़ने जैसा कुहराम था। जब तक लोग सँभलें तब तक ब्रजनारायण ने फिर गरजकर कहा, "चलिए साहिबान, आप लोग अभी उठकर स्टेशन चलिए। मुझे अपने लड़के की शादी यहाँ नहीं करनी।" उनके मुँह में झाग आ गए थे और लाल-लाल आँखें फैलकर माथे पर चढ़ गई थी।

लोग भौंचक्के-से उनके चेहरे की ओर देखते रह गए। कुछ ब्रजनारायणजी को संभाल रहे थे—"बाबूजी, गुस्सा थूक दीजिए, गुस्ताख़ी माफ़ कीजिए।" औरतों के रोने का स्वर और भी तेज़ हो गया। ऊँघते से जागे हुए लोग चकित और उत्सुक होकर देखते हुए समझने की कोशिश करने लगे।

अपनी बात का असर न देखकर, खूब गला फाड़कर हाथ-पाँव इधर-उधर फेंककर ब्रजनारायणजी बोले, "आप लोग चल रहे हैं या नहीं? अच्छा आप लोग बैठिए, मैं जाता हूँ। अपने बाप से पैदा नहीं जो फिर इस देहली पर क़दम रखा तो!"

और एक बार उन्होंने फिर अपने को पकड़कर समझाते लोगों का चक्रव्यूह छिन्न-भिन्न कर दिया, और लपककर जसवन्त की बाँह पकड़ ली। उसे ज़बर्दस्ती झटके से उठाते हुए बोले, "चल बेटा, ऐसी तीन-सौ साठ लड़कियाँ तेरे पैरों पर न डालूँ तो मेरा नाम नहीं, अपनी तरह समझा है इन्होंने!"

बाँह से बार-बार झटके दे-देकर खींचते-उठाते जसवन्त के पिता को इस बार शोभा ने गरदन घुमाकर बड़ी करुण आँखों से देखा, फिर जसवन्त की ओर निगाह उठाई। मर्मभेदी याचना उसकी आँखों में डबडबा आई थी। जसवन्त पटरे से उठ नहीं रहा था। उसकी मुट्ठी में बन्द शोभा का हाथ काँप रहा था।

डकरा-डकराकर रोते हुए शंकरलालजी ने फिर आकर उनके पाँव

पकड़ लिए थे, "बाबूजी, मैं तो अपनी कन्या आपको दान कर चुका हूँ। अब इसे मारो या छोड़ो।"

बाबू ब्रजनारायण ने दहाड़कर जसवन्त से कहा, "उठता है या नहीं ?" गूँज से पूरे घर की दीवारें थर्रा उठीं।

पालथी मारकर बैठे हुए जसवन्त के दोनों पाँव खुल गए, और बाप द्वारा खींचा जाता हुआ वह झिझकता-सा पट्टे पर खड़ा हो गया। उसके हाथ बंद रहने से पसीजी हुई शोभा की मुट्ठी उसके हाथ से छूटकर थोड़ी देर ज्यों-की-त्यों रही। बाप ने उसकी कलाई खींचकर कहा, "चलो।"

जसवन्त ने पटरे के नीचे दूसरा कदम रखा…

और शोभा का गाँठ लगा हुआ दुपट्टा खिचकर नीचे आ रहा।…

सहसा पूरे वातावरण में एक बिजली-सी कौंध गई और शोभा डोर टूटी कमान की तरह एकदम सीधी तनकर खड़ी हो गई। हल्दी-तेल के पीले कपड़े, बंधी सुपारी इत्यादि तथा हरी चूड़ियों वाली कलाई की आवेश से कसी मुट्ठी में उसके पाँव की कामदार नई चप्पल चमक रही थी। उसने क्रोध से काँपती खूब ऊँची आवाज़ में पूरे दम से कहा, "आप लोग सब इस घर से सीधी तरह से निकल रहे हैं या जूते खाकर जायेंगे ? खबरदार जो इस मकान में आगे क़दम रखा ! जाइये, मैं कहती हूँ फ़ौरन निकल जाइये।" उत्तेजना से काँपती फिर वह शंकरलालजी के पास आकर बोली, "बाबूजी, क्यों ज़लील कर रहे हो अपने-आपको इन स्वार्थी लोगों के सामने ! मैं कुत्ते-बिल्ली किसी से भी शादी कर लूँगी, लेकिन इन जानवरों पर थूकूँगी नहीं। मैं किसी भी गँवार का हाथ पकड़ लूँगी, लेकिन इन राक्षसों को घर से निकालिये। मैं उसे खुद पढ़ा लूँगी।"

और उसने हवन के लिए लकड़ी हाथों में लिये भौंचक इस तमाशे को देखते सुम्मेरा की कलाई पकड़कर जसवन्त के खाली पट्टे की ओर खींचा।

त्याग और मुस्कान

त्याग और मुस्कान

अपनी इस ज़रा-सी झक पर सचमुच मुझे कभी-कभी इतनी झुँझलाहट आ जाती है कि उस समय मन होता है, बस, क्या न कर डालूँ! आज तक का एक भी तो उदाहरण नहीं है, जब मुझे अपनी इस झक की वजह से विभिन्न तरह के कष्ट न उठाने पड़े हों।

मजे में फर्स्ट क्लास में जा सकता था। लम्बा सफ़र है, शादियों के दिन हैं, गाड़ी भी ऐसी फ्रण्टियर नहीं है। फिर भी, सब-कुछ जानते हुए भी, देखिए मेरी झक कि साधारण जनता के प्रति ऐसी सहानुभूति उमड़ी कि जा बैठा थर्ड में! जगह मिले तो थर्ड में बैठना भी बुरा नहीं, लेकिन जब गाड़ी इस बुरी तरह ठसाठस भरी हो, तो ज़बर्दस्ती, चार आदमियों से लड़ाई मोल लेकर, ठूस-ठाँस करके डेढ़ सीटवाले नौकरों के उस खाने में घुसकर बैठने की क्या तुक? जिस खाने में एक-दूसरे को कष्ट देकर भी सात-आठ आदमी बड़ी मुश्किल

से बैठ सकते हों, उसमें भरे थे करीब पच्चीस ग्रादमी। एक-दूसरे के पसीने की बदबू से उबकाई-सी ग्रा रही थी, गला सूख रहा था, दम घुट रहा था। दूसरों के दबाव में पिसता शरीर एक ही स्थिति में रहने के कारण झनझना रहा था, लेकिन कोई चारा नहीं था। ग्राखिर पहुँचना तो सभी को है। सब एक-दूसरे पर झल्ला रहे थे—कम्बख्त इतना सामान लेकर चलते हैं, दूसरे के ऊपर चढ़े बैठते है, ग्रपने बल पर सधने की तमीज़ नहीं।

यह तो कहिए कि दो-चार स्टेशनों बाद ही मुझे वह छोटी-सी सीट मिल गई, जो किवाड़ खुलने पर उसके पीछे ग्रा जाती थी ग्रौर वह पूरे डिब्बे से कटकर एक ग्रलग ही राज्य बन जाता था। इसमें ग्राराम यह था कि स्टेशन पर जहाँ भी भीड़ चढ़ती-उतरती थी, किवाड़, खुलते ही, मेरी सीट के ग्रागे ग्रा जाता था ग्रौर मैं पूर्ण सुरक्षित, तटस्थ दर्शक का ग्रानन्द लेता था कि कैसे लोग एक-दूसरे पर चढ़ बैठते हैं, एक-दूसरे को कुचलते, न चढ़ने देने पर लड़ते हैं। मैं उस धक्का-मुक्की में नहीं था, फिर भी मुझे सबसे बड़ी तकलीफ यह थी कि धूप मेरी ग्रोर की खिड़की से ग्राने लगी थी ग्रौर खिडकी चढ़ा लेने पर इतनी उमस ग्रौर घुटन हो जाती थी कि साँस लेना मुश्किल। उस बन्द जगह से न तो बाहर जा सकता था, न भीतर ग्रा सकता था। नीचे रखी डलिया में से निकाल-निकालकर सारे सन्तरे खा चुका, ग्रौर प्यास बुझाने के लिए थर्मस की पूरी कॉफ़ी पी गया था। लेकिन भीड़ थी कि बढ़ती जा रही थी।···

जनता के प्रति सहानुभूति प्रगट करने के लिए जब ग्राप इस तरह के त्याग करते हैं, तो थोड़ी तकलीफ़ तो उठानी ही पड़ती है। जनता के हृदय में उतरकर ग्रपना महत्त्व मनवाना ग्रासान काम नहीं है। इन बेचारे, गन्दे-फटे कपड़े पहने, ग्रशिक्षित, पशु जैसे लोगों को क्या मालूम कि उनके साथ कौन जा रहा है? पार्लियामेण्ट में मेरे एक-एक शब्द का क्या महत्त्व है, सारा देश जानता है। यहाँ के मुख्य मन्त्री

जानते हैं कि मैं न होता, तो वह चुनाव जीत नहीं सकते थे। मेरी तरफ़ घृणा और द्वेष से देखने वाले ये लोग बेचारे क्या जानें कि उनके साथ कौन सफर कर रहा है ? चढने वाले बडी तीखी नज़रों से ऊपर की सीट पर रखी मेरी अटैची को देखते और शायद यह सोचकर अपने को समझाते—कोई बाबू है शायद। उन बेचारों को नही मालूम कि मैं प्रसिद्ध नेता और एम० पी० हूँ और सिर्फ़ जनता की हालत देखने के लिए, उनके प्रति सहानुभूति से भरकर, इतना बडा त्याग करके यहाँ बैठा हूँ ! किसी दूसरे ने इतनी छोटी-सी बात के लिए इतना बड़ा त्याग किया होता, तो मैं श्रद्धा से उसके सामने झुक गया होता। नौकरों को साथ लेकर भी तो आ सकता था, लेकिन नहीं नौकर साथ चलें, तो फिर त्याग क्या ? सचमुच युग हो गए इस दरजे में बैठे जैसे बिल्कुल अपरिचित जगह में बैठा होऊँ। लेकिन भीड़, घुटन, गरमी कितनी है ! इतनी तकलीफ़ तो जेल में भी नहीं मिली···घुटन होती थी, बदबू होती थी, मच्छर होते थे···और जब जेल की तरह-तरह की यातनाएँ मैंने काट दीं, तो फिर यह सब क्या है ? मुश्किल से दो घण्टे, चार घण्टे और···कल इस समय मैं ग्राण्ड होटल में लंच ले रहा था और आज ठीक चौबीस घंटे बाद ? सबसे पिछले हिस्से में यह डिब्बा है, इधर कम्बख्त कोई लेमन-बरफवाला भी तो नहीं आता · और गाड़ी भी जैसे रुकने का नाम करती है, जहाँ ज़रा देर रुकती है, वहाँ चढ़ना-उतरना··· अपनी जगह बचाना इतना ज़रूरी लगता है कि मन मारकर बैठे रहना पड़ता है।

एक स्टेशन पर गाड़ी रुकी···अरे-रे-रे ! कितने आदमी इसी डिब्बे की तरफ़ दौड़े आ रहे हैं··कम्बख्तों को और कहीं जगह ही नहीं मिलती···अरे, भाई ! पीछे-आगे बहुत जगह है, यहाँ तो तिल भी रखने को जगह नही और ऊपर लदे चले आ रहे हैं···मैंने झपटकर खिड़की बन्द कर ली···भीतर और बाहरवालों में जोर का संघर्ष हो रहा है। गार्ड सीटी दे चुका है · पोटलियाँ, बक्से, सूप, चलनी, सब भीतर आ-

आकर गिर रहे हैं···इन जाहिल गाँव वालों की भी बड़ी भेड़-चाल है···एक आदमी किसी डिब्बे में घुसा, तो एक-दूसरे के ऊपर चढ़ेंगे, मरेंगे, लड़ेंगे, लेकिन अगर सब मिलाकर दो सौ भी हुए, तो घुसेंगे सब उसी डिब्बे में। और सामान कितना लेकर चलते हैं, जैसे घर पर कुछ छोड़ ही न आये हों···अरे, यहाँ तो दो आदमियों के भी चढ़ पाने की जगह नहीं है, यह बीस-पच्चीस कैसे चढेंगे ?···धक्का-मुक्की, उठा-पटक कैसी कर रहे है ! अरे भाई, जब जगह नहीं है, तो अगली गाड़ी से आ जाना लेकिन नही, चढ़ेंगे सब इसी में। अच्छा···गाड़ी चल दी, अब सब छूट जायँगे, तो अगली से आयेंगे।···अरे, अरे, ···अरे, अरे रुकवाओ भाई ! जंजीर खींचो, यह औरत भी यहाँ इसी ड़िब्बे में मरेगी···आधी लटक गई है, बच्चा गिरा जा रहा है जनाने में नहीं जा सकती···जाहिल लोग···

गाड़ी दो-चार गज़ सरककर रुक गई है और आखिर ज़ोर लगाकर बाकी आदमी भी चढ़ गए···डिब्बे के दरवाज़े पर कैसे लटक गए हैं ! जिनके हाथ लोहे का डण्डा नहीं आ रहा, उन्होंने एक-दूसरे की कमर ही पकड़ रखी है···उफ ! कैसा ख़तरनाक है, ज़रा हाथ फिसल जाय··· अरे भाई, ज्यादा उधर मत झुको, अभी सिगनल आएगा, तो नारियल की तरह खोपड़ा फूट जायगा। मैं तो बाज़ आया भैया ऐसे त्याग से ! जैसे भी होगा, निकलकर अगले स्टेशन पर डिब्बा बदल ही लूंगा, यहाँ तो मेरी हत्या हो जायगी···

अचानक दरवाज़ा, जो मेरी रक्षा करता हुआ मेरे सामने अड़ा था, झटके से खुला और एक औरत जैसे धक्के में उसमें ठेल दी गई··· बच्चा उसका भीतर आ गया और वह आधी किवाड़ में फँस गई। मैंने दोनों हाथ लगाकर किवाड़ को वहीं रोक लिया। औरत ने फटे गले से कहा, "बाबू, बचाओ !" कैसी कातर याचना थी उसकी आँखों में ! ···मैं बाहर वालों की सारी ताकत का विरोध करता हुआ किवाड़ की सँद को और चौड़ा करने में लग गया। पाँव अड़ाकर जो ज़ोर

लगाया, तो उधर से कई चीखें एक साथ निकलीं, जैसे कई लोग, जो दबे खड़े थे, पिस गए हों···जो भी हो, औरत को तो निकालना ही है···

इसी बीच औरत को इधर-उधर से ठेल-ठालकर दो-तीन आदमी और मेरे उस सुरक्षित स्थान में घुस आए। शायद मौक़ा ही देख रहे थे। ऊपर की सीट पर बन्दर की तरह उछलकर उसका पति चढ़ गया था···उसने बच्चे को ऊपर खींच लिया, इस बार किवाड़ खोलने को जो मैंने आख़िर ज़ोर लगाया, तो औरत भहराकर मेरे ही ऊपर आ गिरी—"बाबू !" और चूहेदानी के ढक्कन की तरह दरवाज़ा बन्द हो गया।

मेरे उस ज़रा-से चौकोर खोल में इस समय पाँच आदमी घुस आए थे। आधी बेहोश-सी औरत मेरी गोद में पड़ी थी···उठकर मैं खड़ा नहीं हो सकता था। ऊपर वाली सीट से सिर टकराता था, इधर-उधर नहीं सरक सकता था, चार-पाँच आदमियों के शरीर फँसे थे···नीचे नहीं उतर सकता था···सामने किवाड़ अड़ा था और गाड़ी दौड़ रही थी।

बड़ी विचित्र स्थिति थी। इस खींचतानी में मेरे माथे पर पसीना आ गया था, साँस फूल गई थी, साँसों की गरम-गरम लपटें नथुनों से टकरा रही थीं · मेरे गले में अपनी दोनों बाँहें डाले मेरी गोद में वह औरत पड़ी थी।···इस बार मैंने उसे देखा, जवान औरत, साँवला रंग, गठा शरीर, लेकिन जैसे बिलकुल अचेत ···कपड़े अस्त-व्यस्त, बिखरे बाल मेरे कन्धों और छाती पर फैल गए थे···मेरा हृदय धड़क उठा। बड़ी डरी और सहमी कनखियों से मैंने इधर-उधर देखा, कोई देख तो नहीं रहा··· लेकिन किसी को शायद इतनी फ़ुरसत नहीं थी···शायद इतनी जगह और होश भी नहीं था कि मुड़कर देखता···ऊपर उसका बच्चा चीख-चीखकर रो रहा था···

एक बार फिर सिर झुकाकर देखा, तीखे नक्श, बीस-बाईस की उम्र, गन्दे कपड़े, औरत गाँव की थी। उसके गन्दे कपड़े मेरे सफ़ेद

खादी के कपड़ों की तुलना में शायद और भी गन्दे लगें'' कम्बख्त को आँचल भी तो ठीक करने का होश नहीं है'''ज़रा भी शर्म नहीं लग रही, मेरी छाती पर यों पडी है'''कोई देख ले तो ? इसे तो होश है नहीं, अब इसके कपड़े मैं कैसे ठीक करूँ, हाथ हिलाने को जगह हो, तब न'''बेचारी को यहाँ तक आने में बड़ा संघर्ष करना पड़ा है''' अपनी पसलियों पर एक मांसल दबाव-सा अनुभव करते हुए मेरा दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़क रहा था।

तभी बड़ी तकलीफ़ से जैसे उसके होंठ हिले—"बाबू, पानी !"

साफ़ है कि इस चढ़ने में उसकी खूब गत बनी है ' उसकी लुढकती गरदन को मैं बाँह का सहारा देकर रोके हुए था। सिर झुकाकर देखने में उसकी टूटी-टूटी साँस मेरे मुँह पर लगती थी। अगर ज़रा में झुककर'''' छिः छिः ! वह बेचारी मर रही है, उसे अपना होश नहीं है और मैं क्या सोच रहा हूँ ?'' मैंने अपने को धिक्कारा'''इस बार रेल की खड़खड़ाहट और कोलाहल में फिर सुना, "बाबू, पानी !"

इस बार उसने अपनी फटी-फटी, सफेद आँखें खोलकर कैसी याचना से देखा'''उफ़ ! मैं कहाँ से पानी लाऊँ ? थर्मस की कॉफ़ी भी तो मैं पी चुका था'''गाँव की औरत है, कॉफ़ी इसे क्या अच्छी लगेगी''' लेकिन कुछ तो सहारा होता ही'''लड़-भिडकर खिड़की से निकल भी जाऊँ तो फिर आ नहीं सकता। मैंने खिड़की के पास वाले आदमी से कहा, "पानी वाला दिखाई दे, तो बुलाना'''"

सचमुच यह औरत होश में नहीं है। तभी तो पति के सामने, इतने लोगों के सामने यों पड़ी है और उस बेचारी को मालूम ही क्या होगा कि वह कैसे और कहाँ पड़ी है'''उसके ढीले, शिथिल हाथ मेरे कन्धों पर इस तरह झूल रहे हैं, जैसे वह बड़े प्रेम से मेरे गले में बाँहें डालकर सोई हो और अब हाथ नीचे लटक आये हों'''फिर बड़ी अस्फुट आवाज़ निकली, पहले से भी क्षीण—"पानी, बाबू !"

कहाँ से लाऊँ पानी'''बेचारी ! उस एक क्षण को मुझे लगा, जैसे

हम लोग बातें बहुत बनाते हैं, कागज़ी घोड़े दौड़ाते हैं···अखबारों, फाइलों और पार्लियामेण्ट की बहसों के हिसाब से तो इस समय थर्ड क्लास में फ़र्स्ट क्लास से भी कुछ अधिक ही सुविधाएँ होंगी। लेकिन ज़रा हवाई जहाज़ से चलने वाले मंत्रीजी यहाँ आकर तो देखें···देखें जवान औरत किस तरह शर्म और हया छोड़कर यों पड़ी कराह रही है? कहीं कोई जगह नहीं है···कैसे पानी मिले, कोई बादल तो यहाँ आकर बरसेगा नहीं! इस बात की भी तो सम्भावना नहीं है कि लड़-भिड़कर पाखाने के नल से भी चुल्लू-भर पानी ले आया जा सके···

"बा···बू···पा···नी···"

स्टेशन पर गाड़ी रुकी। मैंने पास वाले से कहा, "भाई, ज़रा पानी देख दो, यह मर जायगी बेचारी!"

लेकिन कोई पानी वाला नहीं···होगा भी, तो इधर ही रह गया होगा, कहीं फ़र्स्ट-सेकण्ड के आस-पास, यहाँ इतनी दूर क्यों आने लगा··· गाड़ी फिर सरकी···

ये लोग काजल कितना अधिक लगाती हैं···नाक में शायद मोर-पंख की सींक है, गन्दी हो गई है···होंठ कैसे पपड़ा गए हैं···गला शायद सूखकर चटख गया है। कैसी निश्चिन्तता से पड़ी है, जैसे मैं ही··· कल इसी कन्धे पर मिन्नी, मृणाल के हाथ थे, और शायद ठीक इसी तरह मैं उसे कमर से साधे हुए था···आर्केस्ट्रा बज रहा था और जोड़े नाच रहे थे···जैसे सागर की लहरें समुद्र की गोदी में झूम रही हों···फूलों-भरी डाल वासन्ती हवा में झूम रही हो···मृणाल जूड़ा बड़े ही कलापूर्ण ढंग से सजाती है···जब-तब हवा की लहर से उधर जूही के फूलों की खुशबू आ जाती थी···

उफ़! लोगों के पसीने की कैसी बदबू है! पता नहीं, कब-कब नहाते हैं, और नहाते भी है या नहीं। उमस के मारे तो क़ै-सी हुई जा रही है। गरमी भी तो हद की पड़ रही है। लटके कैसे हैं लोग! ऐसी गरमी में, मैं तो मर जाने पर भी ऐसी भीड़-भाड़ में चलना पसन्द न करूँ···

"बाबू · पानी···"

मेरी छाती पर रखे उस अपरिचित मुँह से वह आवाज़ ऐसे निकलती है, जैसे कोई मेरे दिल में ही बोल रहा हो···जैसे मेरा दिल ही बोल रहा हो···न जाने कब-कब का, किस-किस युग का प्यासा दिल···शायद परोपकार और एक सहज मानवीय सहानुभूति के दान का प्यासा··· उफ़ ! पानी दो, भाई, कोई कहीं से ! कोई सुनता भी नहीं है। कैसे हैं ये लोग हमारे यहाँ के ! एक औरत मर रही है, एक ग़ैरत मर रही है, यों दूसरे की छाती पर सिर रखकर, दूसरे के ऊपर बेशरमी से लदकर पड़ी है, लेकिन किसी मे इतनी तमीज़ नहीं है कि किसी तरह एक गिलास पानी का प्रबन्ध कर लाए।···इस जगह कहीं अँग्रेज़ होते तो एक औरत के सम्मान के लिए न जाने क्या कर डालते !···जो जाति अपने यहाँ की नारियों की इज्ज़त नहीं करती, वह कभी जीवित नहीं रह सकती।···रमन्ते तत्र देवता···बकवास ! लिखने को लिख दिया, रमन्ते तत्र देवता, और व्यवहार क्या किया औरतों के साथ ? उस मनु ने ही औरतों को किस कोटि में डाला ? लेकिन यह लोग बेचारे करें भी तो क्या ? उठकर खड़े होने की जगह हो, तो कुछ करें भी····खड़े होने की कोशिश करें भी तो कहाँ खड़े हों · लेकिन पानी तो दो ही कोई···यह गाड़ी भी तो ससुरी कैसे धीरे-धीरे रेंग रही है। ऐसा लम्बा फर्लाङ्ग-भर का इंजन लगा है और चल कैसी मर-मरकर रही है ! ख़तरे की जंजीर तो लगा दी है, लेकिन ऐसे किसी मौके के लिए यह लोग टेलीफ़ोन नहीं लगा सकते ? शायद विदेशों में तो होता है। कहीं पढ़ा था···विदेशों की आज पढ़ी बात हमारे यहाँ कोई बीस साल बाद आ पाती है।···अब गाड़ी धीमी पड़ रही है। इस बार तो जो भी हो, पानी लाना ही है। ये लोग नहीं जायँगे, तो मैं ही जाऊंगा···मेरी सारी अटैची और डलिया का कचूमर निकाल दिया है अन्धों ने···

गाड़ी रुकी। मैंने पूछा—"कोई स्टेशन है ?"

बाहर से कोई बोला, जैसे कहीं दूर नेपथ्य में कोई बोल रहा हो—

"सिगल नहीं हुआ है।"

आग लगे! यह और कोढ़ में खाज! अब यह गाड़ी रानी इस तरह ठमकती हुई चलेंगी···

इस बार अचानक औरत ने सिर उठाया और इस तरह ओ-ओ किया, जैसे कै कर देगी। लेकिन उसकी यह ओ-ओ एक अशक्त खाँसी में बदल गई। गले की नसें फूलकर उभरीं, दो-तीन बार खाँसी आई और थूक के छींटे मेरे गले पर आ पड़े। मैंने सारस की तरह गरदन ऊँची करके मुँह को बचाया। कौन जाने, किसी रोग के कीटाणु ही हों, साँस का कोई रोग हो···यह कमबख्त पड़ी भी तो किस तरह है कि मैं रूमाल भी जाकेट की जेब से नहीं निकाल सकता···मैंने बड़ी प्रार्थना और आग्रह से, ज़ोर से पुकारकर कहा—"भाई, ज़रा पानी हो तो दो, यह मर जायगी···"

"पानी तो कहीं दीख नहीं रहा। ककड़ीवाला ज़रूर है।" बाहर से आवाज़ आई।

"भई, ककड़ी ही लो, कुछ तो शान्ति मिलेगी।" जैसे-तैसे शरमी-बेशरमी की चिन्ता किये बिना, एक हाथ से उसके ढीले शरीर को ऊपर उठाकर रूमाल निकाला, पैसे निकाले और लोगों के बीच में तुड़ती-मुड़ती एक ककड़ी मुझ तक आई। मैंने बाँह पर उसके सिर को सँभाले हुए ही उसके सिर को हिलाकर कहा—"पानी अभी आता है, लो ककड़ी खा लो, तब तक।"

उसने कोई जवाब नहीं दिया, निर्जीव की तरह सिर उसका यों ही हिलकर रह गया। मेरे मन में धक से कुछ लगा, कहीं मर तो नहीं गई! इस बार मैंने हाथ उसके गालों पर रखा, नहीं···होश में नहीं है।

"लो, यह ककड़ी खा लो," मैंने बिलकुल उसके कान में कहा। उसके होंठ ज़रा-से हिले।

मैंने ककड़ी तोड़कर उसका टुकड़ा उसके होंठों से लगा दिया। उसे थोड़ा गीलापन लगा, वह ककड़ी के टुकड़े को चूसने लगी।

किस तरह इसे गोद में लेकर मैं ककड़ी खिला रहा हूँ। वह ककड़ी चूस रही है और मुझे कितना संतोष हो रहा है। प्यास से मेरा खुद का भी गला चटखा जा रहा है। बार-बार हाथ फड़ककर रह जाते हैं कि ककड़ी का एक टुकड़ा मैं भी मुँह में डालकर चूसूँ। लेकिन सचमुच बात झूठ नहीं है, त्याग करने में, त्याग करके सेवा करने में कितना आत्मिक सुख मिलता है! यह कम त्याग है? मैं यहाँ जान-बूझकर इस काल-कोठरी में आ फँसा हूँ, प्यास, घुटन, गरमी से मर रहा हूँ, वह तो यह कहो, मेरी इच्छा-शक्ति इतनी बलवान है, वरना अब तक दूसरा कोई होता तो कब का बेहोश हो गया होता!…यह ऊपर बाप की गोद में बच्चा भी कैसा है, जब से बिना रुके रोये ही जा रहा है। लोग भी कैसी गम्भीरता से अपना समय नष्ट करते हुए लड़ रहे हैं, जैसे सचमुच ही कोई बहुत ज़रूरी काम कर रहे हों जब मेरी चेतना थोड़ी बहिर्मुखी हो जाती है, तो यही सुनाई देता है, चलो, गाड़ी थोड़ी सरकी तो सही, ज़रा हवा लगेगी। इस स्टेशन पर पानी ज़रूर देखना है!…

अचानक मुझे अपनी खुली छाती पर कुछ गीला-गीला लगा। चौंककर देखा, खाली ककडी चूसने से उसे संतोष नहीं हो रहा था। अब वह ककडी का टुकड़ा दाँत से काट लेती थी, और दाँतों से पीसकर पानी चूस लेने के बाद उसे ऐसी तटस्थता से होंठों से नीचे गिर जाने देती थी, जैसे वह खिड़की के बाहर मुँह करके बैठी थूक रही हो। मैंने अपनी छाती पर पड़ी उसकी उगलन देखी, तो मेरा जी बुरी तरह मिचला उठा। एकदम मन हुआ कि झटका देकर ज़ोर से फेंकूँ उधर! भाड़ में गया त्याग और चूल्हे में जाय अपनी आत्मा का आनन्द! किस भावुकता में पड़ा हूँ? उस वक्त मेरे मन में ऐसी शक्ति मचलने लगी कि लगा, मैं एक-एक आदमी को धक्का दे-देकर बाहर फेंक सकता हूँ! इस रेल की यह काठ की दीवारें, खिड़कियाँ, दरवाज़े, सब चूर-चूर कर सकता हूँ। मैंने जी कड़ा करके रूमाल से वह उगलन एक ओर झटक कर फेंक दी। ठीक है, कभी जब सेवाग्राम में था, तो सभी-कुछ

उठाया था, लेकिन वह सबका नहीं था। दूसरे उस सबको इतने दिन हो गए हैं कि आदत नहीं रह गई है। मैंने उसे झिड़का, "क्या करती हो ?"

गाड़ी धीमी पड़कर स्टेशन पर रुक गई। मैंने फिर कहा, "भाई, पानी देखना !"

"पानी वाला है तो सही, लेकिन बहुत पीछे है।"

लटके हुए आदमी चढ़ने-उतरने वालों से जैसे ही निश्चिन्त होते थे, प्लेटफार्म पर उतरकर अपनी शक्तियों को फिर समेटते थे, हाथ-पाँव सीधे करते थे। उन्हीं में से कुछ सहानुभूति से बहुत पीछे कहीं पानी वाले को इस तरह देख रहे थे, जैसे दृष्टि से ही उसे खींच रहे हों।

"भाई साहब, जरा भागकर ले आइए !"

"कोई बरतन दीजिए," एक साहसी युवक बोला।

एक क्षण सोचकर मैंने फ़ौरन ऊपर बैठे उसके पति से कहा, "ज़रा थर्मस का ढक्कन तो दो !"

जैसे-तैसे ढक्कन दिया गया और वह व्यक्ति आगे की ओर भागा। मैंने संतोष की साँस ली, चलो, अब पानी आ जायगा तो कुछ शान्ति मिलेगी।

लेकिन गाड़ी अचानक ही सरकने लगी।··· ओह, जहाँ ज़रूरत न हो, वहाँ तो दो-दो घण्टे डाले रखेंगे और यहाँ ज़रूरत है, तो एक सेकण्ड नहीं रुक सकते···देखा, भागता हुआ वह युवक अपनी जगह आ लटका, लेकिन अपनी पूरी बाँह फैलाकर, लटकते हुए, थर्मस के ढक्कन को फैलाये था। गाड़ी सरक रही थी। पीछे-पीछे पानी वाला मोटे तार में लुटिया का गला फँसाये पानी भरे भाग रहा था। पानी ढक्कन से ज़रा-ज़रा रह जाता था। गाड़ी तेज़ होती जा रही थी।··· क्या इतने पास से पानी निकल जायगा ? युवक चीख रहा था, "एक औरत बेहोश है भाई, पानी ज़रूर दे दो !" अचानक प्लेटफार्म खतम होने से पहले पानी वाले ने पूरे ज़ोर से लपककर पानी ढक्कन में डाल

दिया। आधा फैलकर ढक्कन में आधा ही रह सका। चलो, कुछ तो सहारा हुआ। दर्जनों लोगों की ललचाई, भूखी आँखों से तैरता पानी मेरे पास तक आया। ओफ़, पानी! इस आधे घण्टे में ही यह कितना अलभ्य और अपरिचित बन गया था! जैसे किसी दूसरे लोक से लाया गया हो, जैसे लक्ष्मण के प्राण निकल जायँगे, यदि सूरज निकलने से पहले पानी को कोई हनुमान नहीं लाया।

मैंने खूब ज़ोर से कहा, "लो, पानी आ गया, पियो।"

वह मरी और निर्जीव पड़ी औरत जैसे एकदम सचेत होकर जाग पड़ी। उसने बौखलाकर दोनों हाथों से. थर्मस के ढक्कन को ऐसे पकड़ लिया, जैसे वह कहीं भागा जा रहा हो। मैं ढक्कन को सँभाले रहा। बौखलाहट में वह उसे फैला देती। उसने अपने भूखे होंठ उस पर टेक दिये।

पानी शब्द सुनकर ऊपर वाला बच्चा और भी ज़ोर से चीखकर रोया।

ऊपर बैठे पति ने झुककर कहा, "पहले इसे दे!"

औरत के प्यासे, ललकते होंठ वहीं रुक गए। उसकी चमकती निगाह में एक क्षण को विकल्प आया और फिर वह बुझ गई और मशीन की पुतली की तरह ढक्कन लिये, उसके हाथ ऊपर उठ गए। ऊपर से ढक्कन पति ने ले लिया। बस, होंठों से ढक्कन हटाते हुए उसकी अधखुली आँखों वाली निगाह मेरी निगाह से मिली और एक अजब-सी मुस्कराहट की छाया उसके पपड़ाए होंठों पर फैलकर कोने में अटक गई। उफ़! संसार का कोई चित्रकार, कोई अभिनेता, कोई लेखक शायद उस मुस्कान को नहीं पकड़ सकता। मैं उस मुस्कान में डूब गया...।

और वह औरत फिर निढाल होकर मेरे ऊपर पड़ गई। उसके दोनों हाथ मेरी छाती पर लटक आए और बाल मेरी खुली गरदन में सुरसुरी करने लगे। मैंने पीछे काठ की दीवार से पीठ टिका ली।

हठात् मैं चौंक उठा, ऊपर से पानी टपका, बच्चे ने एकदम पूरा ढक्कन अपने मुँह पर औंधा कर लिया था, जितना मुँह भर गया, वह गया, बाकी नीचे फैल गया।

ऊपर की सीट की सँद से टपककर दो-चार बूँदें उस युवती की कनपटी पर गिरीं। अपनी खुली छाती पर सटी उसकी कनपटी के पास खुलती पलकों की बरौनियों से मैंने जाना कि उसने आँखें खोली हैं। बड़ी कठिनाई से नीचे देखा कि उसके होंठों पर वही मुस्कान तैर आई थी।

···शायद वह किसी को दिखाने के लिए नहीं थी, शायद उसे मालूम भी नहीं था कि कोई उसे देख रहा है। करुणा, वात्सल्य···पता नहीं क्या थी वह मुस्कान! धीरे-धीरे वह मुस्कान होंठों की एक बेजान हरकत में बदल गई, "पानी!···"

बड़ी कृपा है

बड़ी कृपा है

माधव को जैसे-तैसे एक पुस्तक लिखने का काम मिल गया, । उसके पीछे प्रयत्नों और धैर्य की कितनी लम्बी कड़ी थी, इसका जायज़ा न ही दिया जाय तो अच्छा है । बस, इतना ही काफ़ी है कि काम उसे मिल गया और वह भी पंद्रह दिन के वादे पर। पंद्रह दिन बाद पुस्तक प्रेस में चली जायगी । शीघ्र ही छपकर उसे किसी कोर्स में लगना था। अतः पैसे भी छपने पर ही मिलने का मामला तय हुआ । पुस्तक दो सौ पृष्ठ की थी । दो रुपये पृष्ठ की बात थी ।

माधव ने मन-ही-मन दो-चार दिन उस पुस्तक की तैयारी तथा मानसिक स्थिति को सुधारने के रखे और शेष दस दिन में बीस पृष्ठ प्रति दिन के हिसाब से लिख डालने का अनुमान लगाकर पुस्तक पूरी कर देने की लिखा-पढ़ी कर डाली । मेहनत ज़रा ज़्यादा थी, लेकिन इतना कर्ज़ हो गया था कि उसे वह छोड़ना नहीं चाहता था ।

माधव लेखक है तो सही, लेकिन लिखना उसका पेशा बने—इसे उसने कभी नही सोचा था। कालिज का बहुत अच्छा विद्यार्थी होने के नाते तो मशहूर ही था, लिखने में इस प्रसिद्धि ने कुछ श्रद्धा और मिला दी थी। जब एम० ए० करके कालिज छोड़ा तो विभिन्न प्रार्थना-पत्रों, इंटरव्यू तथा अखबारों के वांटेड कालम टटोलने में जो समय और शक्ति का अपव्यय हुआ उसका तो हिसाब नहीं है, लेकिन इन पिछले दो साल में नकद छः सौ तिहत्तर रुपये साढ़े सात आने वह खर्च कर चुका था, और कहीं कोई भी काम नहीं बना था। इस बीच थोड़ा-बहुत अपने लिखने से ही खर्चा निकाल लेता था। उसके पिता ने जिंदगी-भर चाहे कुछ न किया हो, एक दर्जन बच्चों के अलावा, एक देखने में सुन्दर छोटा-सा मकान वह ज़रूर बनवा गए थे।

पिता जो मकान छोड़ गए थे, उसे आधा किराये पर उठाकर जैसे-तैसे काम चल रहा था। लेकिन दो साल का टैक्स छाती पर चढ़ गया था। उधर किरायेदार अपनी इच्छा और सुविधानुसार किराया देता था। माधव को काफ़ी दिन बाद यह काम मिल गया तो बिना आगा-पीछा सोचे उसे ले लिया। रात-भर वह दिमाग में उसे ही बुनता रहा। मेहनत की चिंता किये बिना वह उसे खत्म कर डालना चाहता था, ताकि पैसे मिलें और आफ़त टले। सुबह उसने घर वालों से कह दिया था कि कोई आये तो कह देना कि पता नहीं कहाँ गये हैं।

पहला अक्षर वह लिखने ही वाला था कि बाहर से आवाज़ आई—"माधवजी !" माधव चुप रहा। पहचान तो लिया। राशनिंग इंस्पेक्टर सक्सेना था। उसका माधव पर बड़ा अहसान था। चीनी, कपड़े, सभी का परमिट बिना किसी दिक्कत के उसकी वजह से मिलता रहा था। दो-तीन आवाज़ों पर ही बहन ने उससे कह दिया, "पता नहीं कहाँ चले गए हैं सुबह से ही।"

माधव ने जब बाहर सक्सैना को यह कहते सुना—'कह दीजिएगा, इंस्पेक्टर सक्सेना आये थे' तो संतोष की साँस ली। लेकिन फिर सोचा—

पता नहीं क्या ज़रूरी काम हो, लाओ दो मिनट बात ही कर ली जाय। वह फ़ौरन बैठक के किवाड़ खोलकर बाहर निकल आया। सक्सेना साइकिल पर चढ़ा हुआ चलने के लिए पैडिल ऊपर कर ही रहा था। माधव बोला, "कहो सक्सेना साहब, कैसे सुबह-ही-सुबह तकलीफ़ की?"

"तुम यहाँ घुसे बैठे हो! मुझसे तो कहा गया कि बाहर गये हो।"

माधव ने सफ़ाई दी, "नहीं भाई, उसे पता नहीं था।"

सक्सेना ने साइकिल दीवार से टिकाई और भीतर कुरसी पर आराम से आ बैठा। बोला, "कुछ जरूरी काम कर रहे थे क्या?"

"हाँ, काम तो जरूरी ही था—शुरू करने ही वाला था। तुम बहुत सुबह निकल आए।"

"हाँ, सोचा, चलो ज़रा हो ही आएँ। आओ, ज़रा प्रोफ़ेसर शाह के पास तक चलें।" माधव द्वारा दिये गए सिगरेट को जलाते हुए वह बोला।

"क्यों?" माधव ने पूछा।

"यार, तुम्हारी उनसे अच्छी जान-पहचान है। मेरी एक रिश्ते की बहन की कापियाँ उनके पास आई हैं। ज़रा उनसे कह दोगे तो कुछ हो जायगा। तुम जानते हो, लड़कियों का एक तो पढ़ना ही बड़ा मुश्किल होता है…"

उसके लेक्चर को रोककर माधव बोला, "लेकिन सक्सैना साहब, मेरी तो उनसे जान-पहचान भी इतनी नहीं है," माधव ने बड़े डरते-डरते कहा। कहीं यह न समझे कि बहाना बना दिया।

"अरे, चलो तो। जितनी जान-पहचान है वही काफ़ी है।" उसने लापरवाही से उठते हुए कहा।

माधव झिझकता-सा बोला, "मैं ज़रा लिखना…"

"अरे, लिख लेना। लिखना कहीं भागा थोड़े ही जाता है। बस, पन्द्रह-बीस मिनट का काम है।"

माधव जानता था कि यह काम नकद डेढ़ घण्टे का है। मन मारकर

उसके द्वारा किये गए अहसानों को कोसता हुआ उठा। बैठक बन्द करके दरवाज़े से निकला तो बहन बड़बड़ाई, "ऐसा ही था तो हमें क्यों झूठा बनाया ? अब आगे से मैं सबसे कहूँगी कि भीतर बैठे है।" उसे जैसे-तैसे समझाया।

दोनों प्रोफ़ेसर शाह के घर चल दिए।

वहाँ से जब वह लौटा तो पौने नौ बजे रहे थे।

चलते-चलते सक्सेना ने कहा था, "शाम को आऊँगा।"

इतनी देर में कितना काम कर लेता ! झुँझलाता हुआ माधव सिर झुकाए चला आ रहा था कि अचानक उसकी पीठ पर किसी ने हाथ मारा—"अरे लेखकजी, कुछ दीन-दुनिया का भी होश किया करो—यों चलोगे तो कोई इक्के-ताँगे वाला मुफ्त जेल चला जायगा और हमें भी घाट तक घसीटोगे।"

मुड़कर देखा, नगर के प्रसिद्ध साहित्यकार 'रसज्ञजी' और माधव का एक सहपाठी था, जो कॉलिज में लेक्चरार हो गया था और नाम के आगे दस रुपये में खरीदी हुई होम्योपैथी की डिग्री लगाकर डॉक्टर के नाम से प्रसिद्ध था। वह खुद भी ऐसा ही पोज़ करता था जैसे साहित्य का डॉक्टर है।

चौंककर माधव ने सिर उठाया और मुँह पर प्रसन्नता का भाव लाकर कहा, "कहो डॉक्टर, किधर निकल पड़े ? और 'रसज्ञजी' भी हैं ! कहिए, किधर चल पड़े आप लोग ?"

"कहीं नहीं, तुम्हारी ही तरफ़ जा रहे थे। एक परेशानी आ खड़ी हुई," चिंतित स्वर में डॉक्टर बोला।

"क्या ?" माधव ने सोचा चलो यहीं बला टल जाय—"कहिए, मैं आपकी क्या सहायता कर सकता हूँ ?"

"अब क्या सारी बात यहीं बता दें ? ज़रा बैठने तो दो, फिर आराम से सलाह देना।"

"हाँ-हाँ, चलिए, उधर ही चल रहे हैं," मन-ही-मन इस बात का

अनुमान लगाकर कि ये लोग कितनी देर बैठेंगे, माधव बोला। फिर 'रसज्ञजी' से पूछा, "कहिए, 'रसज्ञजी', क्या हो रहा है ?"

"होना क्या है भाई ! इस गरमी में हम खुद ही बचे हुए हैं, यही क्या कम है!" 'रसज्ञजी' बाएँ होंठ से खिसियानी-सी हँसी हँसते हुए बोले।

बैठक में पहुँचे तो डॉक्टर ने निहायत ही बेतकल्लुफ़ी से कहा, "सुबह-ही-सुबह आये हैं, कुछ लस्सी वग़ैरा नहीं पिलाओगे ?"

इच्छा तो हुई कि मना कर दे। लेकिन 'रसज्ञजी' नगर के प्रसिद्ध साहित्यकार हैं, पहली बार आये हैं—क्या सोचेंगे ! मरे मन से उत्साह प्रदर्शित करके उसने कहा, "हाँ-हाँ, अभी देखता हूँ।"

'रसज्ञजी' ने आकांक्षा-भरे स्वर में कहा, "क्यों कष्ट करते हो ? बैठो, हम तो अभी चले जायँगे।"

"नहीं जी, कोई बात नहीं है।" कहकर माधव भीतर घर में चला गया।

धरती पर खड़िया से लकीरें काढ़कर एक टाँग से उछलते हुए भाई से बोला, "जाओ, अन्नू, ज़रा दही ले आओ। मेरा नाम लेना। बरफ़ भी लेते आना।"

"हमें ही भेजते रहते हैं !"

"जाओ !" माधव ने घुड़का, "जल्दी लेकर आना।"

"पैसे !" नाक के स्वर में वह बोला।

"कह तो दिया हमारा नाम लेना। और हाँ, चार पान भी लेते आना।"

"पान वाला नहीं देता। कहता है उधार नहीं दूंगा।"

"दूसरे से ले आना।"

जैसे-तैसे भाई को ठेला तो माँ बड़बड़ाई, "यहाँ सब बच्चों के इम्तहान हैं। क्या बखेड़ा फैला रहा है !"

"कुछ नहीं, ज़रा-सी देर का काम है।" कहकर माधव कमरे में

चला गया।

"माधवजी, आपने हमारी वह कविता सुनी होगी, 'ज़िन्दगी बोझ है' ?" 'रसज्ञजी' उससे बोले।

"उसकी प्रशंसा तो बहुत सुनी है, लेकिन सुनने का अवसर नहीं मिला।"

"अरे वही तो एक कविता है जिसने तहलका मचा रखा है।" और फिर इस विषय पर एक लम्बा भाषण देकर कि किस कवि-सम्मेलन में उसने क्या हंगामा मचाया है, और किस प्रकार हर जगह उनके विशेष प्रतिपक्षियों के चेहरे फक कर दिए है, 'रसज्ञजी' ने उस दो सो पंक्तियों की लम्बी कविता का सस्वर पाठ किया।

माधव आश्चर्य कर रहा था कि आखिर उस काम का क्या हुआ, जिसके लिए वे लोग इतने सुबह ही आये है।

इस साहित्य-चर्चा में लस्सी बन जाने की सूचना ने विघ्न डाला।

अत्यन्त ही तृप्त भाव से लस्सी पीकर, पान चबाते हुए 'रसज्ञजी' बोले, "आपने बेकार ही कष्ट किया।"

डॉक्टर बोला, " 'रसज्ञजी', आप भी किस तकल्लुफ़ में पड़ गए ! बैठा-बैठा लिखता रहता है, इसे क्या कष्ट करना है ! कष्ट तो हमें है, सुबह से शाम तक कुत्ते की तरह क्लास में भौंकते हैं। एक दिन बच्चू को भौंकना पड़े तो सारा साहित्य निकल जाय। यहाँ तो बैठ गए और उल्टा-सीधा लिख डाला।"

डॉक्टर की इन बेकार की बातों पर झुँझलाकर माधव ने दो-तीन बार मेज़ पर रखी घड़ी को देखा। इसे लक्ष्य करके 'रसज्ञजी' बोले, "हाँ, भाई डॉक्टर, बता दो। शायद यह कोई काम कर रहे थे। फिर चलें, अभी और जगह जाना है।"

"पहले सिगरेट दे।" और ख़ुद बढ़कर मेज़ से सिगरेट उठाकर उसे देखते हुए बोला, "क्या घटिया सिगरेट पीता है ! मैं ऐसी-वैसी सिगरेट तो फेंक देता हूँ। आज तेरी वजह से मुँह ख़राब करना पड़ेगा।"

और उसने सिगरेट जलाई।

"तुझे बंधे-बँधाए तीन सौ मिल जाते हैं न, सो बकबक कर रहा है। यहाँ तीस का भी डौल नहीं है," आख़िर माधव ने संयत भाषा में कह ही डाला।

"वही घिसी-पिटी बातों पर उतर आया न, अच्छा, अब सुनो। 'रसज्ञ-जी' एक पत्रिका निकाल रहे हैं।" फिर ज़रा पास मुँह करके धीरे से 'रसज्ञजी' के प्रतिपक्षी, नगर के दूसरे साहित्यिक दल का नाम लेकर कहा—

"ज़रा उन्हें देखना है, बहुत बहकने लगे हैं। वह मिट्टी पलीद करें कि पानी न मिले। उनकी एक भी रचना नही छापी जायगी। बस, तुम एक बढ़िया फड़कती-सी कहानी लिख दो, दो दिन में।"

"आजकल तो मैंने एक ज़रूरी काम ले रखा है।"

"अरे, दियासलाई दिखा उस काम को। यह काम ज़रूरी है। दो दिन में मिल जाय, वरना तुम्हारी भी डंडाडोली उठवा दी जायगी, समझे?"

"हाँ, माधवजी, कोई ऐसी कहानी दीजिए कि बस मज़ा आ जाय। लोग समझें तो कि पत्रिका में कुछ वज़नदार चीजें हैं।" 'रसज्ञजी' ने नम्रता से कहा, "हम सभी लोगों को आपसे बड़ी-बड़ी उम्मीदें हैं। आप सचमुच कहानी के क्षेत्र में क्रांति कर रहे हैं।"

इस प्रशंसा से माधव की सारी झुँझलाहट उड़ गई। वह बड़े पसोपेश में पड़ गया। हाथ में काम है। कोई कहानी तैयार भी नहीं है, नहीं तो उसे ही दे देता। अगर लिखता है तो दो-तीन दिन चले जायँगे। फिर कुछ मिलने की भी उम्मीद नहीं है। मित्रों से लिया भी क्या जाय! सिर झुकाकर वह सोचने लगा।

तभी बैठक के दरवाज़े पर हैट हिलाते हुए, गरमी से लथपथ, मिस्टर अग्रवाल ने प्रवेश किया। यह पहले कभी माधव के पड़ोसी थे और पत्रिकाओं व पुस्तकों को पढ़ने के बहाने संध्या को आ जाया करते

थे। अब शहर के दूसरे सिरे पर चले गए थे। बीमा कम्पनी में नौकर थे। रोज़ दफ्तर जाना होता था।

जैसे इस मुसीबत से निस्तार के लिए माधव बोला, "आओ अग्रवाल, दफ्तर जा रहे थे?"

"हाँ भाई, हमने सोचा चलो ज़रा बैठ लें। थोड़ी देर है, ग्यारह बजे पहुँचना है। अभी क्या बजा है? कुल सवा दस। अरे, अभी तो बहुत वक्त है। बड़ी गरमी है। ज़रा ठंडा पानी तो पिलाइए।" पंखे के ठीक नीचे बड़े आराम से कुरसी पर बैठकर अपने हैट से हवा करते हुए वह बोले।

"हाँ, तो फिर तैयार हो, माधवजी!" बिना कुछ बोलने का अवसर दिये 'रसज्ञजी' ने कहा, "अच्छा, अब हम लोग चलें। धूप तेज़ होती जा रही है।"

पानी लेने जाता हुआ माधव ठिठक गया। उसने वहीं से आवाज़ दी, "पानी दे जाना, अन्नू!"

"अरे साहब, हमसे ऐसी क्या नाराजगी है! हमारे आते ही आप चल दिए। भाई माधवजी, परिचय तो हो जाता।" अग्रवाल बोले।

माधव ने परिचय कराया। अग्रवाल बोले, "तो साहब, हमारा भी भाग्य खुल जाय। सुना तो आपका नाम बहुत दिन से था। तेरह तारीख को शायद आप ही रेडियो से बोल रहे थे?"

'रसज्ञजी' ने सकुचाने का अभिनय करके, जैसे वह अत्यन्त ही तुच्छ बात हो, कहा, "उस दिन 'कवि के मुख से' में मेरा नंबर था। कौनसी सुनाऊँ? इस वक्त कोई याद भी तो नहीं है। तुम बताओ, डॉक्टर!"

"जो आप चाहें," अग्रवाल पानी का खाली गिलास लौटाता हुआ बोला।

थोड़ी देर गुनगुनाकर 'रसज्ञजी' एक कविता का पाठ करने लगे। माधव बुरी तरह ऊबकर बार-बार घड़ी की ओर देख रहा था। साढ़े दस बजे थे।

जब वे दोनों चले गए तो अग्रवाल ने कहा, "बड़े सुस्त हो—क्या बात है ?"

सुस्त हैं तुम्हारा सिर ! तुम टलो, महाराज ! लेकिन प्रकट में उनसे कहा, "यार, मेरी तो मुसीबत है । कहानी माँगने आये थे ।"

"तो दे दीजिए । इसमें सुस्त होने की क्या बात है ?"

"दे तो सब-कुछ दूँ, लेकिन लिखूँ कब ? दिन-भर, एक के बाद दूसरा आता रहता है । जरा भी लिखने का वक्त नहीं मिलता । देखो, पाँच-छ: पत्र-पत्रिकाओं के ख़त आये रखे हैं ।" माधव ने तीन-चार पत्र दिखाए ।

"बेवकूफ़ तो आप खुद हैं । साफ़ क्यों नहीं कह देते कि इस वक्त मैं काम कर रहा हूँ ।"

"यार, कल ही शहर-भर में शोर मच जायगा कि माधव साहब ता अब बहुत बड़े आदमी हो गए हैं । उनके तो मिलने का समय निश्चित है, घर में बैठे रहते है और मना करवा देते हैं । एक हो तो मना करा दूँ—आज कोई कलकत्ते से आ रहा है, कल दूसरा बम्बई से । वक्त भी खराब करो और पैसा भी फूंको । उधार लेते-लेते दम निकला जा रहा है । कोई कुछ सोचता ही नहीं । स्टेशन के पास घर होने से और भी परेशानी है । आखिर किस वक्त लिखूं ?"

माधव को लगा, वह रो पड़ेगा । कुछ देर रुककर उसने कहा, "लोग ज़रा नहीं सोचते कि इसे भी वक्त की ज़रूरत है । घरवाले अलग परेशान है ।"

"वह तो होगे ही । एक हो तो लोग चुप भी रहें ।" अग्रवाल ने सहानुभूति से कहा ।

सारी बातें बना रहा है, लेकिन जायगा नहीं ! अब किस वक्त लिखूंगा ? फिर बोला, "और हर आदमी समझता है वह पहली बार जा रहा है ।"

"सब आपकी ग़लती है," अग्रवाल ने कहा । फिर जैसे अचानक

याद आ जाने पर घड़ी की ओर देखकर बोला, "अभी तो पाँच मिनट और है।" फिर थोडी देर ऊपर घूमते पंखे को देखता रहा।

"नौकरी कोई मिलती नही। तीन साल से परेशान हूँ।"

"अरे, नौकरी-चाकरी की आपको क्या चिन्ता है? वह तो हम जैसे आदमियों का काम है। भागे जा रहे है दफ़्तर—धूप-लू की चिन्ता किये बिना। आपका तो ठाठ से पंखा चल रहा है। मज़े से उलटा-सीधा लिखना। नाम का नाम हुआ और पैसे भी आये। यहाँ तेल निकल जाता है।"

"हम बाज़ आए ऐसे नाम से। जान आफ़त में कर दी यारों ने। कोई नही देता पैसे। पैसे के नाम हिन्दी की सेवा है।" माधव ने देखा ग्यारह बजने वाले है। उनके दिमाग़ में एक बात आई।

"अच्छा चलें, फिर मिलेंगे।" कहकर ज्यों ही अग्रवाल उठने लगा, उसने हाथ पकड़कर बिठा लिया।

"बैठिए न, अभी क्या जल्दी है! ज़रा देर और बैठिए।"

"नहीं माधवजी, आजकल अफसर बडा सख्त आया हुआ है। दफ्तर का समय हो चुका है।"

"लीजिए, यह एक सिगरेट पीकर जाइएगा।" माधव ने एक सिगरेट खुद ली, एक उसे देकर बिठा लिया।

"नौकरी की आपको ज़रूरत क्या है? ठाठ का मकान है। मज़े मे किराया आता है," अग्रवाल बोला।

"यह तो सभी कहते है। लेकिन क्या मकान को ओढ़ूँ या बिछाऊँ? यहाँ इतने आदमी है, पता नहीं आधे मकान में कैसे रहते है, किरायेदार ने किराया तीन महीने से नहीं दिया है। कोई यह नही सोचता कि आख़िर खाते-पीते कहाँ से है। कैसे काम चल रहा है, यह हम ही जानते है। डेढ सौ रुपये तो बच्चो की फ़ीस जाती है।"

बात अनसुनी करके उठते हुए अग्रवाल बोला, "अरे, आप मकान-मालिक हैं। आपको तो ऐसी बात कहनी ही नहीं चाहिए। अच्छा

देर हो रही है।"

"बैठिए न !" फिर हाथ पकड़कर बिठाते हुए माधव बोला, "पूरे मकान का मालिक मैं नहीं हूँ। इतनी बहनें हैं शादी होने के लिए, इतने भाई हैं पढने को। अगर हिस्सा हो तो मेरे हाथ एक फुट दीवार भी न आए।"

"यह कहने की तो लोगों की आदत होती है। आप यहाँ के साहित्य-कारों में सबसे रईस हैं। आज आप मुझे इतना रोक क्यों रहे है ? भाई, सरकारी नौकरी है, जवाब तलब हो जायगा।"

उसकी बेचैनी का मन-ही-मन आनन्द लेते हुए माधव लापरवाही से बोला, "गोली मारो साहित्यकारों को। यहाँ ज़िन्दगी चखचख में मुहाल हुई जा रही है।"

माधव कभी सिगरेट देकर, कभी यों ही अग्रवाल को रोकता रहा। जितना ही वह जाने की जल्दी मचाता, उतना ही उसे मन-ही-मन आनंद अनुभव होता। अब पता लग रहा है। आपकी तो सरकारी नौकरी है सो आप तो अपने वक्त में से एक क्षण नहीं दे सकेंगे, दूसरे का कोई वक्त ही नहीं।

माधव का इरादा था, दो घंटे कम-से-कम रोका जाय, लेकिन तभी आ गए कालिज के दो विद्यार्थी। बारह बज गए थे। अग्रवाल का चेहरा उतर गया था। अब पता चला दोस्ती करते हैं या दुश्मनी निभाते है। आज इतना दंड काफी था।

"कालिज में दो घंटे लगातार खाली थे, सोचा आपके दर्शन ही कर आएँ," विद्यार्थी बोले।

"बड़ा अच्छा किया," मन-ही-मन खून का घूंट पीकर उसने कहा।

"यह बड़ी अच्छी कहानियाँ लिखते हैं। इस बार कालिज मैगज़ीन में निकल रही है इनकी कहानी।"

"यह तो बड़ा अच्छा है," माधव को कहना पड़ा। वे नए विद्यार्थी आते ही अपनी सारस-सी गरदन, नई-नई चमकदार पत्रिकाओं में गड़ा

कर बैठ गए थे। सिर उठाकर बोले, "आपके पथ-प्रदर्शन में कुछ सीख जायँगे।"

"अरे साहब, हम क्या हैं? यहाँ और भी बड़े-बड़े लोग हैं, उनसे मिलिए," माधव बोला।

वह लड़का बी० ए० का विद्यार्थी था। मुँह बिचकाकर बोला, " 'नन्दन' जी के पास गये थे हम लोग। एक रोज़ तो बड़ी अच्छी तरह मिले। दूसरे दिन अन्दर बैठे थे, फिर भी मना करवा दिया। ऐसों के पास क्या जायँ!"

दोनों विद्यार्थी माधव को जैसे बिलकुल भूलकर एक-एक पत्रिका हाथ में लेकर पढ़ने लगे। उसके पास आने वालों की यह नई आदत नहीं थी।

एक विद्यार्थी ने माधव की छपी हुई कहानी की ओर दूसरे का ध्यान खींचा और दूसरा एक वाक्य पढ़कर उसकी प्रशंसा करने लगा, "देख लो, कैसा स्वाभाविक चित्रण है! वाह, ख़ूब लिखा है!"

अब थोडी देर में स्थिति यह हो गई कि एक विद्यार्थी उसकी कहानी को ज़ोर-जोर से पढ़ता जाता था, दूसरा प्रशंसा कर रहा था, और लेखक महोदय भूखे बैठे धैर्यशील श्रोता का पार्ट अदा कर रहे थे।

बहन ने खाने के लिए बुलाया तो बुसा हुआ-सा मुँह बनाकर उनसे ज़रा देर के लिए क्षमा माँगकर वह भीतर आ गया। माँ ने कहा, "किसे-किसे बिठाए रखता है—न खाते समय चैन न सोते समय।"

"पता नहीं कहाँ से आ मरते है। मैं क्या करूँ? एक काम था सो उसे कोई करने ही नहीं देता।"

माधव रोटी-दाल निगलकर जल्दी-जल्दी बाहर भागा।

बैठक में अब दो के स्थान पर तीन हो गए थे। एक सज्जन थे जो अपना उपन्यास पढ़ने के लिए दे गए थे। उसने जैसे-तैसे क्षमा माँगकर उन्हें विदा किया। हाँ, जब उन्होंने पानी माँगा था तो गुस्से में उसने पूरी सुराही और गिलास लाकर रख दिया। चलते-चलते एक विद्यार्थी

बोला था, "माधवजी, साहित्य में चलने वाली इस धाँधली के सम्बन्ध में आपकी क्या राय है ?"

"कैसी धाँधली ?"

"यही कि लोग एक-दूसरे की प्रशंसा करते हैं, अख़बार वाले रचनाओं का जवाब नहीं देते।"

"सब चलता है," टालने के लिए उसने अन्यमनस्क स्वर में कहा। वह नहीं चाहता था कि वे लोग फिर आकर बैठ जायँ या नया विषय शुरू कर दें, या किताब माँग बैठें।

सबके बाहर निकलते ही ज़ोर से बैठक बन्द करके जब वह ज़रा आराम करने खाट पर लेटा तो क्रोध के मारे सिर भन्ना रहा था। निश्चय किया, इस समय तो सोया जाय, रात को छः घंटे अवश्य ही लिखना है।

अचानक बैठक के किवाड़ किसी ने धड़धड़ाए। जागकर उसने अनसुना कर दिया, इस बार आवाज़ भी आई, "माधवजी !" उसकी इच्छा हुई कि चीख़ने दे। लेकिन किवाड़ों पर थपकी जारी रही तो उसे उठना पड़ा, खोला तो देखा चार सज्जन और एक महिला द्वार पर खड़े थे, पास में ढेर-सा सामान, अटैची-बिस्तर रखे थे। माधव ने ग़ौर से देखा—वह इनमें से एक को भी नहीं पहचानता था।

"आपने मुझे पहचाना नहीं शायद," चारों में से स्थूलकाय लीडरनुमा व्यक्ति ने आगे बढ़कर उसे ग़ौर से देखते हुए कहा, "हमारी-आपकी मुलाकात नागपुर में लेखकों की मीटिंग में हुई थी। मेरा नाम ब्रह्मस्वरूप है। यह बड़े अच्छे कहानीकार हैं, यह कवि हैं, यह पत्रकार और समाज-सेवक है, यह इनकी पत्नी हैं।"

माधव भौंचक्का-सा उन्हें देख रहा था। थोड़ी देर में उसे याद आया, घंटे-भर की मीटिंग में ब्रह्मस्वरूप से उसका परिचय हुआ था। वह एक पत्रिका के संपादक हैं, आगरा आने की उन्होंने इच्छा प्रकट की थी, तो इस बात की कल्पना किये बिना कि सचमुच वह आ भी सकते है, शिष्टता के नाते अपने यहाँ आने का उसने निमंत्रण दे डाला था।

"ओह, हाँ ! आइए। क्षमा कीजिएगा, मैं भूल गया था।" उसे कहना पड़ा। वे लोग एक-एक करके भीतर चले आए। माधव को ख़ुद ही उनकी अटैची इत्यादि उठाकर भीतर लानी पड़ी। बैठक में एक ओर ढेर लगा दिया।

"वह लड़की आपकी बहन थी शायद। बोली, भाई साहब सो रहे है। हमने कहा, हमारा नाम लो और जगा दो। बड़ा कष्ट दिया आपको।"

"कष्ट क्या ! आप लोग आराम से बैठिए न !" माधव ने मुस्कराकर कहा।

"हाँ-हाँ, बिलकुल ठीक है," गरमी से हाँफते हुए वह बोले, "आपका मकान बड़ी सुन्दर जगह है, स्टेशन के बिलकुल पास। ज़रा भी दिक्क़त नही हुई। मैं कहता था न वहाँ कोई तकलीफ़ नही होगी।"

दूसरे ने कहा, "बना भी बहुत सुन्दर है ! क्यों जी, भीतर भी काफ़ी बड़ा है न ?"

माधव कुढ़ रहा था और अपने मकान का नक्शा बता रहा था।

"तो आप यहाँ साहित्य-साधना करते हैं। भई, बड़ी लगन के आदमी हैं आप।" वह पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों को निगाह से टटोलकर बोले। फिर आराम से चारपाई पर दीवार का सहारा लेकर लेट गए।

"भाई, मैं तो रास्ते में इन्हें यही बताता आ रहा था कि साहित्य में किसी के नाम के आगे यदि कहानी-सम्राट् लगेगा तो वह तुम्हारे ही। बड़ी ताक़त है तुम्हारी लेखनी में। पाठकों के ऐसे-ऐसे ख़त आते हैं कि कहा नहीं जा सकता। कोई फोटो माँगता है, कोई पता।" ब्रह्मस्वरूप ने बताया।

झुंझलाहट और क्रोध के बावजूद माधव ऊपर से प्रसन्न और संकुचित हो उठा। वह चिंता के मारे मरा जा रहा था कि अब इन लोगों की ख़ातिर करनी पड़ेगी। ब्रह्मस्वरूप उसकी कहानियाँ बड़े चाव से मँगवाते और छापते थे, हालाँकि बार-बार अपनी स्थिति का रोना

रोने पर भी उन्होंने कभी एक कहानी के दस रुपये से अधिक नहीं भेजे थे।

"देखो भाई, तकल्लुफ की ज़रा भी ज़रूरत नहीं है। हम तो बस यहाँ की प्रसिद्ध जगहें देखकर जल्दी-से-जल्दी चल देना चाहते हैं। बस, ज़रा ठण्डा पानी मँगा दीजिए और ज़रा नहाने-धोने का प्रबन्ध कर दीजिए, ताकि हम लोग चार-पाँच बजे तक निकल जायँ।"

"अच्छी बात है, मैं अभी आता हूँ।" कहकर माधव भीतर आ गया। वह आगरा में ऐतिहासिक इमारतें बनवाने वालों के बाप-दादाओं को कोस रहा था।

माँ भन्नाई बैठी थी, "किस-किसको बुला लेता है रोज़-रोज़! मैं साफ़ कहे देती हूँ, न तो मेरे यहाँ पूरी बरात के सोने की जगह है और न यहाँ कोई मन-भर रोटियाँ सेकने को बैठा है।"

जैसे-तैसे लड़-भिड़कर पाँच गिलास नीबू का शरबत बनवाकर जब वह बैठक में आया तो ब्रह्मस्वरूप बोले, "भई, इतने सब तकल्लुफ की क्या ज़रूरत थी? ठण्डा पानी काफ़ी था। चीनी शाम को दही वग़ैरा में डालने के काम आ जाती।"

"चीनी और आ जायगी," खिसियाना-सा माधव बोला।

"नहीं, मैंने एक बात कही।"

जब ब्रह्मस्वरूप नहाने के लिए चले गए तो माधव ने कवि महोदय से पूछा, "आप इनके पत्र में लिखते रहते होंगे?"

कहानी-लेखक बोले, "नहीं जी, हमारा सम्पादकजी से परिचय यहीं टूंडला में हुआ। हम प्लेटफार्म पर गाड़ी की राह देख रहे थे। वहीं इनसे भी परिचय हो गया। मैं बनारस का हूँ, यह जबलपुर के हैं और यह अहमदाबाद के।"

माधव ने तकदीर ठोंक ली, पूछा, "तो आप लोगों का पहले से कोई परिचय नहीं है?"

"जो भी है सो टूंडला में ही हुआ है। हम तो होटल में ठहरने

कुत्ते

कुत्ते

हम लोग एकदम ठिठक गए।

उस पतले और संकीर्ण बाज़ार में बहुत से आदमियों का एक झुण्ड खड़ा था। इधर-उधर से आने-जाने वाले भी उसी झुण्ड में सम्मिलित हो जाते और एक-दूसरे के ऊपर चढ़े जाते हुए-से झाँक-झाँककर वे भीतर की ओर देख रहे थे। सब जैसे स्तब्ध-उत्सुक और भीत। स्वाभाविक जिज्ञासा हुई। पास पहुँचने पर पता चला कि बीच में कोई घटना हो गई है, जिसे घेरे हुए इतने लोग खड़े हैं। लोगों की भीड़ चीरकर कुछ पंजों पर उचककर झाँका, तो कुछ क्षण को हम भी बँधे रह गए! बीच में कोई पन्द्रह-बीस गज़ का एक गोलाकार स्थान सड़क पर खुला छोड़कर लोग घिरे थे। इस गोले की आमने-सामने की सीमाएँ बाज़ार की दोनों ओर की दूकानों से बनती थीं। दोनों ओर दूकानों पर भी बहुत-से आदमी बैठे और खड़े तमाशा देख रहे थे।

इस गोले के बीच में गँवारू कपड़े पहने एक आदमी सिर झुकाए बैठा था और अपने झुके हुए सिर को दोनों हाथों से पकड़ रखा था। उस गोले में निगाह सबसे पहले चारों ओर फैले ख़ून की ओर जाती थी। गाढ़ा-गाढ़ा लाल ख़ून दो स्थानों पर ढेर-सा पड़ा था और अब धीरे-धीरे नालियों की ओर रेंगने लगा था। वह आदमी सिर झुकाए बैठा था। उसके मुँह से ख़ून की एक पतली धार सड़क की पथरीली ज़मीन पर गिरकर काफी स्थान ढक चुकी थी, और अब इठलाते साँप की तरह धीरे-धीरे एक ओर बह रही थी। झुका होने के कारण उसका चेहरा देखा नहीं जा सकता था—पता नहीं उसके कहाँ चोट लगी थी। हाँ, कभी-कभी वह ख़ून थूक देता था। एक ओर एक मैली पुरानी-सी साइकिल खड़ी थी, उसके केरियर में दूध की बड़ी टंकी बँधी थी। इसी टंकी का ढक्कन इस आदमी के पास पड़ा था—सब स्तब्ध, उत्सुक, आतंकित!

'यहाँ अभी कोई दुर्घटना हो चुकी है।'

लोग एक-दूसरे से पूछ रहे थे और एक-दूसरे के ऊपर चढ़े-से चले आ रहे थे। उनके कन्धों पर बोझ डालते, ऊँट-सी गरदन बढ़ाकर फैली आँखों से स्थिति स्वयं देखने-समझने की चेष्टा करते थे। मैंने आगे वाले एक मनुष्य से पूछा—"क्या हुआ?"

"पता नहीं, कुछ झगड़ा हो गया।" वह बोला और व्यस्तता से देखने लगा।

"किस-किसमें? झगड़ा हो गया है, सो तो मुझे भी दीखा।"

"इन्हीं दोनों में हुआ है।" उसने उस व्यक्ति की ओर संकेत करके एक तरफ़ की ढाई फीट ऊँची दुकान पर बैठे दो आदमियों की ओर इशारा किया। उस ओर देखा—सबसे पहले चिकन की चिनी हुई चमकदार टोपी पर दृष्टि पड़ी और फिर कुरते-पाजामे पर। दूसरा सादा बनियान और पाजामा पहने था—मोटी कमानी का चश्मा लगाए हुए। दोनों बिलकुल निरपेक्ष तटस्थता से बैठे थे, जैसे कुछ हुआ ही नहीं

और तभी उस बीच वाले आदमी ने अपना सिर उठाकर दर्शकों से कहा, "आप लोग सब देखते हो मैंने क्या किया है ! मैं यहीं मर जाऊँगा आज ! ये बड़े आदमी हैं।" उसका सारा मुँह खून से सना था, इसलिए यह पता लगाना बड़ा मुश्किल था कि खून उसके नाक, आँख, मुँह—कहाँ से निकल रहा है। उसके गन्दे कपड़े स्थान-स्थान से फट भी गए थे।

अचानक एक खद्दरधारी सज्जन भीड़ में से कुछ आगे बढ़कर बोले, "वाह अच्छा मजाक बना रखा है कि चाहे जिसको लिया, पीट दिया। हम देखेंगे किसने मारा है ! बाबा उठो।" उसने आदमी की कुहनी पकडकर झुकते हुए कहा।

"हमने मारा है हमने, जाइए जो कुछ आपको करना हो कर लीजिए— हो सके तो फाँसी पर चढ़वा दीजिये।" उन दोनों दुकान पर बैठने वाले आदमियों में से एक ने खूब गरजकर ऊँची आवाज में कहा। स्वर में तीखी चुनौती थी।

वे दुबले-पतले सज्जन भीड़ में चले गए। बात अभी तक समझ में नहीं आई थी कि मामला क्या है। हल्की आलोचना-प्रत्यालोचना अस्पष्ट भनभनाहट के रूप में चारों ओर फैल रही थी। कोई कह रहा था कि पैसों के ऊपर कुछ कहा-सुनी हो गई है, कोई कहता पुरानी बात है। जैसे किसी सिनेमा का कोई रोमांचक दृश्य एक स्थान पर रुक गया हो, कुछ-कुछ वैसी ही उत्सुकता चारों ओर व्याप्त थी। तभी दो-तीन सिपाहियों के साथ वे सज्जन फिर लौट आये। सिपाही भीड़ को हटाकर भीतर गोले में आ गए। घटना को शीघ्र-से-शीघ्र समझने का प्रयत्न करते वे भीड़ को धकेलते हुए बोले, "जाइए साहब ! आप लोग जाइए, क्यों यहाँ भीड़-भाड बढाते है बेकार ?" लोग पीछे हट गए, लेकिन गया कोई नही। कई आवाजें भीड़ में से उठीं। सिपाहियों ने भी कहा, "इसे ले चलो, 'रपोट' होगी।" एक सिपाही ताँगा लेने गया, दूसरा उस घायल आदमी के पास खड़ा रहा और तीसरा सामने

वाली दुकान में लाला से घटना समझने की कोशिश कर रहा था। बार-बार वह उस आदमी को देखता, उन दोनों दुकान वालों की ओर देखता। लाठियाँ उन तीनों के साथ थी।

ताँगा आ गया और भीड़ तितर-बितर हो गई—गोला टूट गया। कई आदमी उसे उठाकर ताँगे में रखने लगे।

"आप चलेंगे साहब!" एक सिपाही ने उन दोनों को लक्ष्य करके पूछा। उसके शब्दों में नम्रता और झिझक थी; कम-से-कम वह तेज़ी नहीं थी, जिससे उसने भीड़ को सम्बोधित किया था।

"अच्छा जी!" दर्प से उस बनियान वाले ने इस प्रकार कहा, जैसे सिपाही ने कोई घोर बेअदबी की बात कह दी हो, "आप ही रह गए हैं हमें ले चलने को!" सिपाही चुपचाप चला गया। लोगों को एक बार फिर चले जाने का आदेश देकर वह खद्दरधारी सज्जन और तीनों सिपाही उस घायल को ताँगे में रखकर थाने चले गए। पीछे एक आदमी उस साइकिल और दूध की टंकी को भी ले गया।

अब भीड़ इन दोनों की ओर सिमट आई। कई आदमियों ने उनकी ओर बढ़कर पूछा, "क्या हुआ ठाकुर साहब, यह क्या हो गया?"

"कुछ नहीं जी, कोई खास बात नहीं।" उपेक्षा और निश्चितता से चिकनधारी ने सिर हिलाकर कहा। उसकी मूँछें खूब भारी और ऊपर को ऐंठी हुई थीं, दूसरे की सफाचट। उसने कई बार अपने होंठ चबाए। वह फिर गरजकर बोला—"आप लोग खून को खराब मत कीजिए, दरोगाजी आकर देखेंगे।" और बनियान में बनी जेब से उसने कैप्सटन की सिगरेट निकालकर खूब स्थिरता से जलाई। लोगों ने खून वाले स्थान छोड़ दिये थे।

भीड़ में से एक वृद्ध ने आगे बढ़कर सहज स्नेह के स्वर में पूछा—"कहो भई बल्लू, क्या हंगामा है यह? तुम्हारी यह आदत जाने कब जायगी।"

"चाचा, वह कहीं जा सकती है! वह तो जिन्दगी के साथ ही

जायगी।" दोनों एक ओर कुछ आदर की भावना से सरक गए, उन्हें बैठने का स्थान छोड़कर।

वृद्ध महाशय बैठ गए—"क्यों, ज़्यादा मार-पीट दिया क्या ?"

"जाओ-जाओ भई ! तुम लोग क्यों घेरे खड़े हो ?" भीड़ की ओर देखकर ऊँचे स्वर में उन्होने कहा। फिर जैसे वृद्ध के प्रश्न के उत्तर में बोले—"कुछ नहीं, यों ही ज़रा-सा खून निकल आया। चोट-फोट तो कुछ आई नहीं है, मेरी काठ की चट्टी एकाध पड़ी हो तो पड़ी हो, नहीं तो इसके दो-एक घूँसे पड़ गए है, बस।" कहकर उन्होंने अपने पास बैठे एक लड़के की ओर संकेत किया। पहलवान छाप बीड़ी के पहलवान की मुद्रा में अठारह-उन्नीस साल का वह लड़का भी चुपचाप बैठा अपनी आस्तीनें ऊपर उठा-उठाकर पुष्ट बाँहों पर हाथ फिरा रहा था। उस लड़के से बोले—"अरे बाबा के पैर नहीं छुए—चलो।"

लड़के ने आगे बढ़कर उनके चरण छुए और उनके आशीर्वाद को शाबाशी की तरह ग्रहण करते हुए बोला—"पड़े कहाँ ! बस एक नाक पर पड़ा, एक जबड़े पर, तभी तो गिर पड़ा।"

"बात क्या हो गई ?" वृद्ध ने पूछा। मालूम हुआ कि ये रिटायर्ड तहसीलदार हैं।

"कुछ नहीं, साला गाली दे रहा था। एक तो दूध इतना पतला, फिर तीन लुटिया डालकर बोला–चार डाली हैं। मना किया तो गाली देने लगा, फिर भला यहाँ किस साले से कम हैं ! इन उल्लू के पट्ठों की ज़बानें तो ऐसी हो गई है कि जी चाहता है बाहर खींच लो।" सिगरेट पीते हुए वह बनियान वाला बोला।

"अरे भाई, इन सालों के पास पैसा है।" वृद्ध ने कहा। फिर जैसे गम्भीर रहस्योद्घाटन करते हुए बोले—"बल्लू, तुम समझते हो गरज़ हमारी ही है आजकल। दूध लेना हो तो सालों के सब नखरे सहो।"

"अरे, तब भी चाचा गाली तो कभी नहीं सुनी। फ़िर इन कमीनों के मुंह से ? तुम्हें तो याद होगा जब दादा ज़िन्दा थे, उस आदमी से

कहा-सुनी हो गई थी उनकी। गाली तक तो नौबत भी नहीं आई थी। हम चारों ने मार-मारकर बिछा दिया था ज़मीन पर। दूसरे दिन लड़ने को ललकारकर चला गया। पाँचों बाप-बेटों ने सिर घुटाए, लाठियों पर तेल मला और अपने-अपने कफ़न सिर पर बाँध लड़ने पहुँच गये थे। हम पाँच थे और वे सात-आठ। चार घंटे वह लाठी चली, वह लाठी चली कि छटी का दूध याद आ गया। चाचा, हल्ले हो गए थे शहर में। मेरी तो बाँह उतर गई थी, पर सबको भगा दिया।" और एक बार उन्होंने गर्व से साँस खींचकर भीड़ की ओर देखा, जो अब छँटने लगी थी। हम लोगों को काफ़ी आनन्द आ रहा था—खड़े सुनने लगे।

"भई, वह ज़माने ही और थे—तब जैसा खाने-पीने को कहाँ मिलता है अब! वह तो बातें ही और थीं।" वृद्ध अतीत में डूब गए।

"हाँ चाचा, हमारे ख़ानदान में ही देखो। हमेशा से तलवार और ढाल मुग़ल बादशाहों को सप्लाई करने का काम रहा है। मौत और ख़ून तो साँस-साँस में भरी थी। अब दो बूँदे ख़ून की देखीं और भीड़ इकट्ठी हो गई। अब जिस देहली पर तुम बैठे हुए हो, बादशाहों की इनाम दी हुई है। राजा बीरबल खुद इस मकान में रहते थे पहले। इस शहर के ये तीन-चार बड़े-बड़े मुहल्ले सब हमारे ही पुरखों के नाम पर तो हैं। वाह साहब, क्या हिम्मत थी उनमें भी—क्या दिलेरी! हमारे ख़ानदानी राजा लालसिंह, महाराज मानसिंह के साथ काबुल फ़तह करने गये थे। वह मार-काट मचाई है वहाँ कि आज भी काबुल का बच्चा-बच्चा थर्राता है! अब भी छोटे बच्चे रोते हैं तो वहाँ की औरतें उन्हें चुप करती हैं—'चुप हो जा, चुप हो जा लूलू-मून्नू आये।' और बच्चा चुप हो जाता है। यह 'लूलू-मून्नू' लालसिंह-मानसिंह का ही बिगड़ा हुआ रूप है। हौवे की तरह से डरते हैं बच्चे। हमारे परबाबा की बात है—मगर के शिकार का बड़ा शौक था उन्हें। पानी में कूदकर सिर्फ़ एक कटार से चाहे जैसे मगर को मारकर लाते थे। लगोटी लगाई, एक

कटार ली, एक हल्दी-जैसी गाँठ थी उनके पास—न जाने क्या बूटी थी, एक सन्त महात्मा ने प्रसन्न होकर दी थी। उसकी खुशबू से ही मगर कोसों दूर भागता था। वे सीधे मगर के ऊपर कूदते थे।" फिर एक बड़ी गहरी साँस लेकर बोले, "अब सब बातें रह गई हैं चाचा! लोग कहानी समझते हैं, बस। अब ये नई पीढ़ी के हमारे ही लौंडे इन पर विश्वास नहीं करेंगे।"

"अरे तब भी वह खून का उबाल कहाँ जायगा? शेर चाहे जैसा भी मरा-गिरा हो, कुत्ता तो बन नहीं सकता।" वृद्ध ने जैसे प्रोत्साहन देते हुए कहा।

"खून की बात तो यह है चाचा, कि आजकल के इन नये लड़कों से तो हज़ार गुने अच्छे है। पानी इन लोगों को नसीब नहीं है, जितना हमने घी पिया है।" और स्वतः उनकी चौड़ी छाती फूल उठी। आँखों में सुरूर झूम आया। मूँछें होंठों पर लेटे अंग्रेज़ी अक्षर 'सी' की तरह तनकर ऐंठ गईं। चेहरा जैसे एक अद्भुत नशे में डूब उठा। हम लोगों की ओर देखकर ओजस्वी स्वर मे बोले, "जयपुर का अजायबघर देखने गये। महाराणा प्रताप का जिरहबख्तर और तलवार टँगी थी। वहाँ का आदमी बोला, छुओ मत, दूर रहो, गिर पड़ेगा, बहुत भारी है। मुझे बड़ा बुरा लगा। लपककर वह लम्बी बीस सेरी तलवार यों उठा ली।" उन्होंने हाथ से तलवार की लम्बाई बताई और बड़ी आसानी से उसे उठाने का अभिनय किया, "फिर जनाब छः मन के उस जिरहबख्तर को पहनकर दो घण्टे वह तलवार चलाई कि देखने वाले दाँतों तले उँगली दबा गए। बोले—'वाह! तेरी माँ ने पिलाया है दूध।' फिर उन्होंने सामने खड़े लोगों की ओर मुँह घुमाया। गर्व-दीप्त उनके मुँह को प्रायः सभी ने प्रशंसा-मुग्ध नेत्रों से देखा। अब अधिकांश लोग जा चुके थे, केवल बीस-पच्चीस श्रोता खड़े रह गए थे। उस घटना के तीखेपन और पीछे पड़े खून को प्रायः सभी लोग भूल चुके थे। वहाँ मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। लोगों को अपने से आकृष्ट

और प्रभावित देखकर उन्होंने और भी अधिक प्रभावशाली ढंग से बताना शुरू किया। मैंने देखा, बातों में भौंह की चाल, मुख की भंगिमा, वाणी के उतार-चढाव, हाथ और शरीर की सहायता से चित्र-सा खींच देने की उनमें अद्भुत शक्ति है।

"उन दिनों बाइस्कोप नया-नया निकला था (उनका तात्पर्य मूवी से था)। एक पुराना मुग़ल बादशाहों के जमाने का खेल था। किले में तस्वीरें उतारने उनकी पूरी कम्पनी आई। हज़ारों आदमी देखने गये, हम भी पहुँचे। उस समय चढ़ती उमर थी, जवानी अंग-अंग में भरी थी। क्या पूछते हो हमारे जोश को, वह तनी हुई मूँछें, चढ़ी हुई आँखें, रौबीला चेहरा, सेब-से गाल, कुल्लेदार साफ़ा, खूब झकझकाती लम्बी कमीज़-सलवार, परों में सलीमशाही सुनहरी कामदार जोधपुरी जूती; क्या पूछते हो उस समय!" उन्होंने वास्तव में हाथों और मुँह की सहायता से एक ऐसे ही रौबीले जवान का चित्र खड़ा कर दिया, "हम भी एक तरफ खड़े देख रहे थे। तभी सिनेमा के मालिक ने पुकारा—'ए जवान, इधर आओ।' मैंने चौंककर इधर-उधर देखा, फिर जा पहुँचे पास। किसी का डर तो था ही नहीं। वह बोला, 'हम तुम्हें हीरो बनाएँगे, हीरो—बादशाह जहाँगीर का पार्ट तुम्हें दिया जायगा।' और सा'ब उन्होंने हमें अपनी कम्पनी में ले लिया। वह खातिर की कि क्या पूछना? हीरोइन थी एक यूरोपियन लेडी। अब उसकी सुन्दरता क्या बताऊँ—चमचमाता चाँद का-सा टुकड़ा, देखो तो देखते ही जाओ, काश्मीरी सेब-से गाल, भूरी-भूरी आँखें, नीली पुतलियाँ, सुनहरे बाल—रेशम-से मुलायम। पान खाती तो गले में पीक की लाइन-सी चली जाती, साफ़ देख लो। रुई के गाले-जैसी—ओफ़ क्या कहना उसकी ब्यूटी का! हमें सा'ब वे उसके पास ले गए। एक डॉयलाग बताकर उसका ऐक्टिंग करने को कहा। हमने दोनों हाथ माथे पर मारे और कहा, 'रांड, तू हमारी बोली नहीं समझती, हम तेरी ज़बान नहीं जानते, हमारा-तेरा साथ क्या?' बस सा'ब डॉयलाग बोलने भी नहीं दिया और

'ब्यूटीफुल' 'ऐक्सीलेण्ट' कहकर उन्होंने हमें गोद में उठा लिया'। पूरे फ़िल्म में हमने काम किया और बाद में हमें पता चला कि उस फ़िल्म के डायरेक्टर थे हिमांशुराय !"

इस चरम पर कथा को लाकर उन्होंने श्रोताओं को देखा। सब आश्चर्य से विश्वासपूर्वक उन्हें देख रहे थे। इतना सजीव एवं शक्ति-शाली उनका वर्णन था कि उसके अनुसार ही श्रोता मुस्कराते और गम्भीर होते। तभी पीछे पड़े ख़ून की ओर मेरा ध्यान गया। इस कथा में हम उसे बिलकुल ही भूल चुके थे। एक कुत्ता सूँघता हुआ आकर उसे चाटने लगा था। मन में हुआ, मनुष्य का ख़ून क्या इतना सस्ता है ? भगा देने की इच्छा हुई, पर न जाने क्यों हाथ हिल नहीं पाया।

"यह ज़रा-सा ख़ून निकला और लोगो ने समझा न जाने क्या फाँसी लग जायगी।" इस बार उन बनियान वाले महाशय ने सिगरेट फेंककर कहा, "अरे मुझे पच्चीस साल यही करते हो गया। हम लोगो को क्या ख़ून....दो भाई तो हम फ़ौज में है, एक पुलिस में—जहाँ दिन-रात यही होता है। एक बार की बात है जब हम लोग ईरान में थे। दुश्मन से घिर गए थे। मार्च का आर्डर मिला। कैप्टन होने के नाते सारा चार्ज मेरे ही ऊपर था।" और वे भी एक किस्सा बताने को थे कि भीड़ में भनभनाहट हुई, दरोगाजी आ गए। लोगों ने इधर-उधर हटकर जगह छोड़ दी। तभी साइकिल पर, बगल में डेढ़ हाथ का बेंत, काला चश्मा लगाए, गोरे-मोटे-से दरोगाजी पूरी वरदी में वहीं उतरे। प्राय: सभी लोग सटपटाकर इधर-उधर थोड़े-से खिसके। बातों के जादू में स्थिति की जिस गम्भीरता को भूल गए थे, वह जैसे फिर नई हो गई। पर अब क्या होगा, यह जानने की इच्छा से और भी चलते-फिरते लोग, दूकानदार फिर आ जमा हुए। कुत्ता अब भी बड़े मनोयोग से ख़ून को सूँघ-सूँघकर चाट रहा था।

"आइए-आइए दरोगाजी !" ठाकुर साहब एकदम उठ खड़े हुए, उनकी अभ्यर्थना करते हुए एक कदम आगे बढ़े—"हटो भई,

बैठने दो इन्सपेक्टर साहब को। हटो, जाइए सा'ब आप लोग। क्या भीड़ लगाई है, अपना-अपना काम देखिए !" कहकर उन्होंने दरोगाजी की साइकिल लेकर एक ओर खड़ी कर दी। दरोगाजी दुकान पर बैठकर चश्मा हटाकर लोगों के बीच से उस खून की ओर तीव्र दृष्टि से झाँकते हुए बोले, "और कहिए ठाकुर साहब, यह क्या हंगामा खड़ा कर दिया ?"

"कुछ नहीं सा'ब !" फिर पास बैठे लड़के की ओर देखकर बोले, "जा भई, शरबत, पान, सिगरेट ला कुछ दरोगाजी के लिए।" फिर खुद ही हँसकर कहा, "कभी-कभी ही तो आप गरीबों को खातिर करने का मौक़ा देते हैं।" लड़का चला गया और उन्होंने स्वयं बड़े आदर के साथ अपनी जेब से हाथी छाप सिगरेट और दियासलाई की डिबिया पेश की। दरोगाजी ने सिगरेट जलाकर सब लोगों की ओर ग़ौर से देखा, फिर उन बनियान वाले सज्जन की ओर देखकर कहा, "कहिए कैप्टन साहब, छुट्टियाँ कब तक और हैं ? अब तो लड़की की शादी का काम-काज भी खत्म हो गया होगा। आप तो ऐसे बैठे हैं बनियान पहन-कर, कौन कह देगा कि कैप्टन हैं।"....और स्वयं सिगरेट का धुआँ छोड़ते हुए जोर से हँसे।

"अरे भई, यह घर है। यहीं नंगे घूमे थे। आज कैप्टन हो गए तो क्या हो गया !" जब से दरोगाजी का रुख देखकर कैप्टन साहब बुरा माने बैठे थे, अब खुश हो गए। एकदम जैसे कुछ याद करके बोले, "अरे, तुम्हें भी तो निमन्त्रण मिला होगा—बड़ी राह देखी तुम्हारी।"

"अरे आप समझते हैं कैप्टन साहब, शहर का मामला है, कितने बिज़ी हैं हम लोग ! अब यही साला गिड़गिड़ाने लगा जाकर कि 'ग़रीब आदमी हूँ, बेकार मारा है। मैं ठीक गिन रहा था।" मैंने कह दिया—ग़रीब है तो वहाँ उन लोगों से भिड़ा क्यों था जाकर ? एक और थे लीडर-से साथ में। वे वकालत कर रहे थे, उन्हें भी डाँट दिया—"आप कौन होते हैं दालभात में मूसलचन्द ! मेरे मन में जो होगा वही तो

करूँगा, आप कहेंगे वह कैसे हो सकता है? आजकल तो ठाकुर साहब, ऐरे-गैरे सब उपदेश देने लगे हैं। सब कानूनदां की पूँछ बने जाते हैं। हमने पन्द्रह साल जैसे घास ही खोदी है।" जैसे कुछ सोचते हुए उस पर झुँझलाकर दरोगाजी ने जोर से सिगरेट का कश खींचा।

"अरे साहब, क्या पूछते हो आजकल को!" ठाकुर साहब ने कहा। तभी वह लड़का एक गिलास में शर्बत तथा एक हाथ में पान ले आया। उन्होंने उसके हाथ से गिलास लेकर दरोगाजी की तरफ़ बढ़ा दिया। कुत्ता अब भी ख़ून चाट रहा था।

"नहीं-नहीं ठाकुर साहब, इस तकल्लुफ की क्या जरूरत थी?" गिलास लेकर घूंट-घूंट पीते हुए दरोगाजी बोले। जब गिलास समाप्त हो गया तो ऐसा भाव दिखाया जैसे चित्त प्रसन्न हो उठा। पान को बडे अहतियात से मुँह मे रखते हुए कहा—"कैप्टन साहब, तेल निकल गया हमारा तो इस नौकरी में—खासतौर से इस शहर में। यहाँ भाग, वहाँ जा, रातों सड़कों की धूल फाँकते फिर रहे हैं, सभी अफ़सरों का डर। दो-दो दिन बाद सबके यहाँ हाज़िरी बजाने जाओ, नहीं तो उनके दिमाग़ चढ जायँगे। और मज़ा यह कि लेने-देने का कोई मामला नहीं। वे दिन-रात बस यही चाहते है कि दरोगा चाहे अपने घर से दे, पर दिलवाता रहे—उनका गट्ठा भरता रहे। उल्लू के पट्ठों से पूछो, दरोगा के भी बाल-बच्चे हैं। अंग्रेज़ तब भी ठीक था। इन हिन्दुस्तानियों के मारे तो और भी नाक में दम है।"

दरोगाजी ने सिगरेट जलाई—"अरे ठाकुर साहब, तुम्हारी कसम, कोई सेन्स नहीं इस भाग-दौड़ में—सब खानापूरी—दिखावा। अब यहाँ आना पड़ा इस बेवक्त। बोलो, बीवी के पास अच्छे-खासे लेट रहे थे खाना खाके। दो आदमियों में आपस में कुछ कहा-सुनी हो जाती है, तो दरोगा क्या उसमें अपनी ऐसी-तैसी कराए? लेकिन नहीं साहब, आई० जी० के आर्डर्स हैं—रोजनामचा भरने यहाँ भी आना पड़ा। ईश्वर कसम ठाकुर साहब, इस जैसा महकमा बेवक़ूफ़ी

का दूसरा नहीं है। दो-एक दिन कहीं कुछ नही हुआ, अब इन्सपेक्टर पूछ रहा है कि वारदातें क्यों नही हुईं? जवाब तलब किये जा रहे हैं। अब या तो वारदातें कराओ, या कहीं गाँव में फिरो, जहाँ डाकखाना भी नहीं हो। दरोगा को शहर में रहना है, नौकरी करनी है—बैठा-बैठा रोजनामचे में वारदातें भर रहा है। अच्छे-भले आदमियों को १०९ में ला-लाकर जेल भर रहा है कि आवारा घूम रहा था।" दरोगाजी सहसा उठ खड़े हुए—"अच्छा ठाकुर साहब, अब चलें आगे—और चक्कर लगा आऊँ ज़रा। अच्छा कैप्टन साहब!" इतनी देर से बेंत को धीरे-धीरे हथेली पर मारते हुए वे यह सब कह रहे थे। उसे बगल में लगाया, एक हाथ से साइकिल उठाई और एक हाथ से कालर ठीक करते चले गये। थोड़ी दूर पैदल चलकर फिर साइकिल पर चढ़ गए।

कुत्ता उस ख़ून को चाटता एक सिरे पर आ गया था।

दरोगाजी की नमस्ते का प्रत्युत्तर देकर कैप्टन साहब और ठाकुर साहब ने सारी भीड़ की तरफ़ गर्व-स्फीत आँखों और छाती से देखा। एक बड़ी साँस तीर की तरह खींची और छोड़ दी। आदमी कुछ निराश होकर इधर-उधर बिखरने लगे। उन्हें कुछ और आशा थी।

कुत्ते ने ख़ून को इधर-उधर से चाट-चूटकर बीच का गाढ़े ख़ून का हिस्सा बिलकुल छोड़ दिया था। वहाँ मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। अचानक टाँग उठाकर उसने ख़ून पर पेशाब किया, ख़ूब तनकर लम्बी अंगड़ाई ली और धीरे-धीरे एक ओर चला गया।

कुतिया

कुतिया

बड़े भैया न जाने कहाँ से उसे उठा लाए थे। बड़ा सुन्दर पिल्ला था—मोटा-सा। बदबदे शरीर का, बड़े-बड़े बाल, सुनहला रंग। अजीब आकर्षण उसमें था कि देखो तो लेने की इच्छा होती और आँखें तृप्त हो जातीं। अपने छोटे-छोटे पैरों से जब वह इधर-उधर चलता तो बच्चे कुतूहल से उसे देखते। और एक जब आवेश में उसे उठाकर छाती से चिपका लेता तो दूसरा खींचातानी करता, झगड़ता। वह कुतिया थी घर-भर का एक खिलौना। जो आता उसकी तारीफ करता। दिन-भर उसे कुछ-न-कुछ खिलाया-पिलाया जाता और उसका पेट फटने की सीमा तक फूला-सा लगता। कभी कोई बच्चा अकेले में उससे बात करता, कभी बच्चों की तरह थपकी देकर उसे सुलाया जाता। मैं चाहता कि मैं जब पढ़ूँ-लिखूँ तो वह मेरी मेज या गोदी में बैठी रहे।

और वह पिल्ला कुछ बड़ा हुआ।

बाल उसके कम होने लगे और शरीर की सुडौल गठन के स्थान पर एक पतली-लम्बूतरी देशी कुतिया की सूरत उसमें से बाहर निकलने लगी। दिन-भर गोद या हाथों में रहने के कारण पाँव उसके टेढ़े (पंगु) हो गए थे, और वह निहायत सुस्त-आलसी थी। दिन-भर मुँह झुकाए पड़ी रहती, क्योंकि खाना उसे बिना श्रम के मिल जाता था। बच्चों का प्यार कम हो गया।

कुछ और दिन बीतने पर हमने देखा, कुतिया साधारण बाज़ारू कुतियों जैसी हो गई है, उसकी आँखों से कीचड़दार पानी बहता रहता है, जहाँ मक्खियाँ भनभनाया करती है। कानों में कलीले भरे रहते हैं। अब उसको खाज भी होनी शुरू हो गई थी।

उसके प्रति सारा स्नेह और प्यार ग़ायब हो चुके थे और बच्चों को निषेध कर दिया गया कि वे उसे ज़रा भी न छुएँ।

बच्चों को न लग जाय या इसका कोई और प्रभाव न पड़े, इसलिए हमें विवश होकर इक्के में बाँधकर उसे शहर के एक दूसरे हिस्से मे छोड़ आना पड़ा कि वह उधर आ ही न सके।

बहुत दिन बीत गए।

आज मुझे अचानक उधर से गुज़रने का मौक़ा मिला। एक कुतिया मेरे पैरों से लिपट गई, बार-बार मेरे पैरों को सूँघती और दुहरी होकर पूँछ हिलाते हुए कूं-कूं करती। मैंने पहचाना, वही कुतिया थी। अब वह बहुत बड़ी हो गई थी और शायद वह गर्भिणी थी। खाज उसकी अब भी वैसी ही थी। घृणा से मैंने बचना चाहा और बेंत से परे हटाकर चलने लगा। लेकिन वह नही मानी, लिपटी-लिपटी चलने लगी। मैंने डाँटा, मारने के लिए बेंत भी हिलाया, पर वह गई नहीं। हारकर दो-तीन बेंत उसकी पीठ पर जड़ दिए, क्योंकि मुझे अब उससे तनिक भी मोह नहीं रह गया था।

टाँगों के बीच में पूँछ दबाए 'क्यों-क्यों' चीख़ती वह एक तरफ़ हट गई और सड़क के किनारे बैठी एक स्त्री के पास खड़ी होकर अपलक

मुझ देखने लगी। मुझे लगा, उसकी आँखों में पत्थर को भी पिघला देने वाली शक्ति है। वह मूक पशु! दिल भर आया और खड़ा उसे देखता रहा। वह कभी हमारे यहाँ रही थी और प्यार की भाजन थी। काश, वह बोल पाती!

स्त्री की पीठ मेरी ओर थी, शायद वह कोई भिखारिन थी, लेकिन जवान थी। कुतिया ने उसे सूँघा और मेरी ओर देखती पूँछ हिलाती रही। प्यार से स्त्री ने कुतिया के ऊपर हाथ फेरा। हाथ का रंग गोरा था, लाल काँच की चूड़ियाँ थीं। सड़क पार, सामने दूकान पर बैठे लाला को सम्बोधन करके उसने कड़ककर रोती हुई आवाज़ में कहा—"जाड़े-धूप-लू में मैं यहीं सड़कर मर जाऊँगी, पर जाऊँगी नहीं! ईश्वर तुझे देखेगा, तेरे शरीर में कीड़े पड़ेगे। पहले मीठी-मीठी बातें करके घर से—माँ-बाप के यहाँ से—भगा लाया। आठ-दस साल मौज उड़ाई और अब छोड़ दिया। जवान थी तो तेरे यहाँ रही, अब बता मैं कहाँ जाऊँ? मेरा घर-बार सब छुड़ा दिया। कोठा लेकर बैठूंगी भी तो तेरे सामने ही बैठूंगी। बड़ा सेठ बना है····नास जायगा नास····"

खजैली कुतिया की पीठ पर मुँह रखकर वह फूट-फूटकर रो पड़ी। सिर की धूल-भरी उलझी लटें कुतिया की पीठ पर बिखर गईं—शायद कभी वे सुन्दर रही हों।

पिल्ला

पिल्ला

किसी ने घंटी बजाई। मैंने छोटी बहन को भेजा, "देखना कौन है ?"

उसने किवाड़ खोले और चौड़ी-सी सँद बनाकर वहीं खड़ी बाहर किसी से बात करती रही। मैं उत्सुक था कि आखिर कौन है जो भीतर नहीं बुलाया जा सकता ? मैंने बैठे-बैठे ही पूछा, "कौन है ?"

उसने जवाब कुछ नही दिया और भागकर मेरे पास आकर धीरे से, ताकि बाहर वाला सुन न ले, बताया, "कोई आई हैं। मैंने भीतर आने को कहा. पर नहीं आतीं।"

"आई हैं ?" आश्चर्य से दोहराता हुआ मैं उठा। "कौन आई है ?" द्वार पर देखा—अट्ठाईस-तीस वर्ष की, सफेद धोती और ब्लाउज- में, गेहुँए वर्ण की कोई महिला खड़ी थीं। उलटे पल्ले की धोती देखते ही बताया जा सकता था कि वह पढ़ी-लिखी हैं और ईसाई है। मैंने

शिष्टतापूर्वक नमस्कार किया। पूरा दरवाजा खोलकर एक ओर हटते हुए कहा, "आइए, भीतर आइए न ! कहिए, कैसे तकलीफ़ की ?"

"नहीं-नही, ठीक है।" उन्होने और भी नम्रता से मुस्कराकर कहा। फिर जैसे किसी अपराध की क्षमा-याचना कर रही हों, बोलीं, "देखिए, एक अर्ज है।"

"कहिए, कहिए न !" मैने शीघ्रता से कहा। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि आखिर अर्ज क्या है, और इन्हे इतना संकोच क्यों हो रहा है।

"देखिए, आपकी यह कुतिया है न—यह कब बच्चे दे रही है ?" फिर माँगने की झेंप से सकुचाते हुए बोलीं, "हमारा एलसेशियन मर गया है। अब हमें एक कुत्ते की सख्त जरूरत है। वह बेचारा तो बड़ा ही अच्छा था। बारह साल का होकर मरा। उसे टॉमी कहते थे, बच्चे।" और शायद उस टॉमी की याद में पिघलकर उनका गला रुँध गया।

मैंने इस विषम स्थिति से उनका उद्धार करते हुए कहा, "बड़े शौक से, बड़े शौक से ! यह तो दो-तीन बच्चे देगी, उन सबका हम क्या करेंगे ? बहुत हुआ तो एक रखेगे। वैसे मैं आपका परिचय···"

"हाँ-हाँ, मै जैक्सन परिवार की हूँ—आशा जैक्शन। प्रैक्टिस कर रही हूँ। यहीं पास के मुहल्ले में हमारा बँगला है। जैक्सन साहब को तो आप जानते होंगे न—शराब की दुकान है बहुत बड़ी, कैंट में। खैर, अगर आप इस बच्चे का कुछ चाहेंगे···" फिर जसे झेंपकर कहा, "बात यह है कि मुझे आपकी कुतिया बहुत ही पसन्द है। बड़े क़द का कुत्ता मुझे पसन्द नही है। छोटे-से-छोटा हो और देखिए, मैं आँखें बन्द ही ले जाऊँगी।"

बच्चे का कुछ चाहने की सुनकर मैंने जल्दी से कहा, "अरे····अरे, आप क्या बात करती हैं ! आप तो पिल्ला लेंगी न ?"

"जी हाँ, देखिए, किसी दूसरे को मत दीजिएगा," शिष्टता की प्रतिमूर्ति बनकर उन्होंने कहा, "मैं परसों फिर पूछ जाऊँगी।"

"नही, कोई बात नही है, मैं जरूर आपको दे दूँगा।"

"अच्छा, मैं चलूँ। देखिए, भूलिएगा मत।" माथे तक हाथ करके उन्होंने नमस्कार किया और बरामदे से उतर गई। जाते वक्त फिर कहा, "देखिए, किसी और से वायदा मत कीजिएगा।"

"आप खातिर जमा रखिए," मैंने उन्हे आश्वासन दिया—मुस्कराते हुए।

कानो में मफलर लपेटे और मोटे-मोटे चैस्टर डाटे हम दोनों ही घूमने जा रहे थे। हाथ जाड़े के कारण हमने जेबों मे ठूँस रखे थे। दिसम्बर के अन्तिम दिनो की ठंड और सुबह के पाँच बजे का वक्त। सूरज निकलने में अभी काफ़ी देर थी और कोहरा बड़ा घना था। सुबह की ठंडी हवा नाक-कानों को जमाए दे रही थी। बोलने में भी आगा-पीछा सोचना पड़ रहा था। हम लोग चुपचाप ही चलते गए। हम जैसा साहसी एकाध और आता-जाता दिखाई दे जाता था। टहलकर लौटने वाले प्रायः जुगाली की तरह उन्मुक्त रूप से दातुन चबाते हुए आते और जाने वाले जाड़े की सीत्कार के साथ 'रघुपति राघव राजाराम' या कोई और भजन की धुन मुँह से निकालते हुए।

निर्दिष्ट स्थान पर आकर हम लोग रुके, और मशीन के पुतलों की तरह लौटने के लिए घूम गए। चुपचाप ही लौट चले। नाम इनका सरन बाबू है। अध्ययन में मुझसे बहुत, और उमर मे पाँच-छः वर्ष बड़े है, इसलिए मैं इनका आदर करता हूँ।

आखिर मैंने कुछ सोचकर हँसते हुए कहा, "सरन बाबू, आप जैक्सन साहब को जानते हैं? कैंट में शराब की दूकान है।"

"कौन जैक्सन? जैक्सन एण्ड कम्पनी तो नहीं?" उन्होंने मेरी ओर देखा।

"हाँ-हाँ, वही। कल उनकी कोई बहन आई थीं—मिस आशा-जैक्सन, पिल्ला लेना चाहती हैं। बड़ी खुशामद कर रही थीं। हमारी

जरा-सी तो कुतिया है। मुश्किल से दो-तीन पिल्ले देगी, और लोगों ने अभी से माँगने शुरू कर दिए है।"

"अच्छे किस्म की होगी ?" फिर अचानक याद करके कहा, "अच्छा, वह नौ इंच ऊँची वाली—क्या नाम है उसका ? भई, साफ़ बात है, उसका एक पिल्ला तो तुम्हें हमें देना पड़ेगा। पीछे देते रहना किसी जैक्सन-फैक्सन को। तुम जानते हो, बाल-बच्चा कोई हमारे है नहीं। अच्छा-सा पिल्ला हमें जरूर चाहिए। मैं तुमसे साफ कहे देता हूँ—कोई भी बहानेबाज़ी नही सुनूँगा।" फिर कुछ रुककर कहा, "इन माँगने वालों की क्या है ? वही कुतिया तो है न....." वह नाम याद करने लगे।

"हाँ, वही। बड़े अच्छे किस्म की है। वह तो उसका कुछ देने को भी तैयार है। हमारे यहाँ तो यों ही आ गई थी।"

"भई, चीज अच्छे किस्म की हो, बीस माँगने वाले आ जायँगे। कहीं कस्तूरी छिप सकती है ? चीज़ तो दूर-दूर से अपना मोल पुकारकर कह देती है।" सरन बाबू ने बड़ी गम्भीरता से कहा, "अब यहाँ जात-पाँत न मानने वालों से मैं एक सवाल करूँगा। क्यों भई, कुत्ते-कुत्ते तो सभी एक बराबर हैं। उनमे इस तरह का भेद करना कहाँ तक उचित है कि एक को आप दो हज़ार रुपये का भी खरीदें और एक की बात भी न पूछें ?"

"क्या मतलब आपका ? आप कहना चाहते है कि आदमी-आदमी का यह भेद, रक्त-सम्बन्धी ऊँच-नीच, शूद्र और ब्राह्मण का बँटवारा ईश्वर का किया हुआ है ?" मैंने चौंककर उनकी ओर देखा। मुझे मालूम था कि वह जातिवाद में विश्वास रखते हैं, लेकिन अभी तक मैं अपने-आपको उनसे सहमत नहीं कर पाया था।

"बिलकुल, बिलकुल," उन्होंने दृढ़ता से कहा, "ईश्वर और प्रकृति ने सभी जगह विभाजन किया है। शेर-शेर एक नहीं होते, मछलियों में भी सैकड़ों भेद हैं, आप कहीं भी ले लीजिए। फिर यही क्यों असम्भव है कि आदमी-आदमी में कुछ भेद हो ? क्षत्रिय क्षत्रिय है, ब्राह्मण

ब्राह्मण है। आप कितनी भी कोशिश कर लीजिए, बनिया नहीं छिप सकता। सभी मनुष्य समान है, यह सिद्धान्त बड़ा ही अवैज्ञानिक है।"

"लेकिन ये प्रगतिशील विचारों वाले लोग तो गले के सारे व्यास को फैलाकर बस यही चीख़ते हैं कि सब मनुष्य बराबर हैं, उनमें कोई भेद नहीं है।" मैंने तर्क रखा।

"यही तो इनकी अवैज्ञानिकता है," उन्होंने बड़े आत्मविश्वास से बताना शुरू किया, "किसी भी चीज़ का वैज्ञानिक विश्लेषण आप तभी कर सकते हैं जब अपने को उससे बिलकुल तटस्थ और निर्लिप्त बना लें। जब तक आपका उस वस्तु से किसी भी तरह का सम्बन्ध है, आप निर्लिप्त नहीं रह सकते, यानी वैज्ञानिक दृष्टि से जाँच नहीं कर सकते। जो आदमी-आदमी के बराबर होने की बात चिल्लाते है, असल में वे अपने-आपको तटस्थ नहीं कर पाते। इसीलिए उनका निर्णय सर्वमान्य नहीं है। एक कुत्ता भी अगर कुत्तों में विभाजन करने बैठेगा तो वह कैसे वैज्ञानिक रह सकेगा, यह मेरी समझ में नहीं आता। क्योंकि पता नहीं वह खुद किस वर्ग में आए। इनमें विभाजन तो आप ही कर सकेंगे जो इन सबसे बिलकुल अलग हैं। आप ही तो बता सकते हैं यह ग्रेहाउण्ड है, यह बुलडाग, पायनियर, ताजी, देशी, शिकारी वग़ैरा है।" और अपने तर्क की अकाट्यता पर वह स्वयं सन्तुष्ट-से चलने लगे।

इसका मतलब तो यह हुआ कि आप सिर्फ़ यही नहीं मानते कि मनुष्य-मनुष्य में श्रेष्ठता और हीनता प्राकृतिक है, बल्कि यह भी मानते है कि जिन्होंने इन नियमों तो बनाया वे मनुष्य-मात्र से बौद्धिक रूप में उठे हुए थे, तभी तो विभाजन कर सके।"

मेरा मन इसे स्वीकार तो नहीं कर रहा था, लेकिन बात इतने तर्क-पूर्ण ढंग से और इतने आत्मविश्वासपूर्वक कही गई थी कि इसके विरुद्ध कोई युक्ति नही सूझ रही थी।

"इसमें शक ही क्या रह जाता है ? निश्चित रूप से वे मनुष्य-मात्र से ऊँचे उठे हुए थे, नहीं तो इतना तर्कपूर्ण विभाजन हो ही नहीं सकता

था। और मैं तो यह मानता हूँ कि समाज का वह ढाँचा बड़े सोच-समझकर विशाल अनुभवों के बाद बनाया गया था, यों ही बैठे-बैठे किसी के दिमाग़ में फितूर नहीं आता। समाज में यह जातिवाद और ऊँच-नीच रहेगा ही और रहना जरूरी है। इसके बिना समाज चल नही सकता। मेरा दावा है कि समाज में जब तक अपना वही पुराना ढाँचा नहीं लाया जाता, सुख और शान्ति आ ही नहीं सकती।"

जैसे वह किसी घोर विरोधी को उत्तर दे रहे हों, उसी जोश में एक-एक वाक्य कहते रहे। आख़िर उत्तेजना में जेब से हाथ निकालकर हवा में हिलाते हुए उन्होंने कहा—

"लोग साम्प्रदायिकता-साम्प्रदायिकता चीखते है, समझते है नही साम्प्रदायिकता चीज़ क्या है? आप ब्राह्मण है, भंगी को अपने पास बिठा-लीजिए, खाना खा लीजिए साथ, इससे होता क्या है? आप उस खून का क्या करेंगे जो उसकी नस-नस में दौड़ रहा है, जो उसके बाप-दादाओं ने दिया है? आप उसे कहाँ निकाल फेंकेगे? एक चीते और बबरशेर को सिर्फ साथ बिठाकर खिला देने से ही आप उनका भेद थोडे ही दूर कर सकेगे?" फिर जैसे अनुपस्थित विरोधियों के प्रति उन्होंने घृणा व्यक्त की, "बेवकूफी! बकवास!"

"लेकिन शेर-चीतों का बाहरी भेद इतना साफ है कि हम उन्हें देखते ही पहचान लेते हैं। आप आदमी को देखते ही कैसे पहचान लेंगे कि वह किस कुल का है, क्योंकि मनुष्य में जो फर्क है वह भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार है। पहाड़ों पर रहने वाले गोरे होगे, विषुवत रेखा के पास रहने वाले काले—अब आप कैसे पता लगाएँगे?" मैं उनके इस जोश से सहम गया, फिर भी तर्क देता रहा। हम लोग घर के काफ़ी निकट आ गए थे।

"देखो, बेवकूफी की बात तो तुम किया मत करो।" अपने बड़े होने के अधिकार का उन्होंने फौरन ही सदुपयोग किया, "आप यह क्यों नहीं सोच सकते कि जिन लोगों ने इस तरह का विभाजन किया उन्होंने

जाति-कुल पहचानने की तरकीब और चिह्न भी दिए हैं ? आपने कभी स्मृति-पुराण आदि कोई चीज़ उठाकर देखी है कि योंही बकबक किये जा रहे हैं ? आप मेरे सामने लाइए कोई आदमी, मैं बताता हूँ।"

आवेश में वह थोड़ी देर चुप रहे। अपने होंठों को भींचते रहे, फिर कुछ नरमी से कहा, "मैं मानता हूँ कि भौगोलिक परिवर्तन होता है, लेकिन कितना होगा ? आप मुझे बताइए, बंगाल और गुजरात करीब-करीब एक ही रेखाओं पर हैं, फिर क्यों वहाँ के रंगों में इतना फ़र्क है ? तो भाई मेरे, यह कोई सार्वभौम नियम नहीं है।"

अपनी बुद्धि पर इस आक्रमण से मै तिलमिला गया, "आदमी-आदमी में यह विभाजन यहाँ क्यों है ? हमने तो किसी भी देश में ऐसा नहीं सुना।"

"तभी तो वहाँ आये दिन युद्ध, कतल, लड़ाई, डकैती होती है। आप मुझे बताइए वहाँ कोई सुख, कोई शान्ति है ?"

"सो तो यहाँ भी हो रहा है," मैने कहा।

"यही तो मै कह रहा हूँ श्रीमान्, यहाँ यह सब-कुछ क्यों है ? क्योंकि हम सब उससे दूर हो गए है। विदेशों में तो यह चीज है ही नहीं। उसकी अंधी नक़ल में हम भी उसी तरफ भाग रहे है। कोई नहीं जानता कहाँ पहुँचेंगे, कहाँ मरेंगे, बस घिसटना, पीछे घिसटना। अपनी आत्मा की सारी तिक्तता लाकर उन्होंने कहा।

हम लोग चुपचाप चलते रहे।

"कुछ भी हो, आखिर यूरोप वाले भी इस चीज़ को समझेंगे ही, जायँगे कहाँ ?" उन्होंने गर्व और विश्वास से कहा।

मैं चुप रहा, प्रायः निरुत्तर भी। हम लोग घनी बस्तियों में आ गए। रोशनी हो रही थी और कुहरा मिट रहा था। नाले की पुलिया पर बैठे कुछ बुड्ढे चैस्टरों और अलवानों में ढके दबे बड़े जोश में अपने-अपने राजनीतिक विचारों को व्यक्त कर रहे थे। मुख्य सड़क पर हम चलने लगे थे।

अचानक मैं चौंक गया। एक पतली-सी गली मकानों के बीच में चली गई थी। उसी में ज़रा भीतर जाकर सैकड़ों आदमी झुण्ड बनाए खड़े थे। हम लोग वहीं रुककर देखने लगे। भीड़ में जिन लोगों के मुँह दिखाई दे रहे थे वे बड़े शरमाए और मुस्कराते हुए थे।

"आइए सरन बाबू, ज़रा देखें क्या है ?" मैंने ठिठककर कहा।

"अरे, होगा क्या, कुछ चुनाव का प्रोपेगैंडा है। आजकल तो सभी पर यही चुनाव का चक्कर है।" उन्होंने लापरवाही से कहा। वह अधिक उत्सुक नहीं थे।

"नहीं, तब भी देखें न !" मैंने कहा और गली में मुड़ गया। चादर लपेटे, जनेऊ कान पर चढ़ाए एक आदमी सामने के नल पर मिट्टी लगा-लगाकर हाथ धो रहा था। उसी से पूछा, "क्यों भई, क्या मामला है ?"

"कुछ नहीं जी, आज सुबह-ही-सुबह भंगिन जब झाड़ू लगा रही थी तो मन्दिर की दहलीज पर टाट में लिपटी हुई कोई चीज़ दिखाई दी। उसने समझा कूड़ा-करकट होगा, झाड़ू मारी तो टाट खुल गया, देखा एक बच्चा था।"

"बच्चा !" चिहुँककर मेरे मुँह से निकल गया।

"हाँ बच्चा; हाल का होगा या एक-दो दिन का होगा।" उसने कुछ दुःख प्रकट करके कहा, "जाड़े के मारे बेहोश-सा था। वह तो लोगों ने रुई से दूध पिलाया, कपड़े उढ़ाए, तब उसके गले से आवाज निकली।"

"अच्छा ! तब तो ज़रूर देखना चाहिए।" वहाँ से बढ़कर हम और सरन बाबू भीड़ में आ गए। हृदय में बड़ी उत्सुकता थी, आख़िर बच्चे को यहाँ कौन छोड़कर चला गया ? कैसा है ?

भीड़ से झाँककर देखा, गोल घेरा-सा छोड़कर ज़मीन पर ही वह बच्चा लेटा था, नीचे टाट था। फिर एक सफ़ेद फटी धोती कई तह करके बिछाई हुई थी, उसी पर वह लेटा था। ऊपर से फटे कम्बल का टुकड़ा

किसी ने उढ़ा दिया था। बच्चे का केवल मुँह ही खुला था—छोटा-सा, गोल-गोल लाल मुँह। सिर में बालों की जगह हलके रोएँ, छोटी-छोटी आँखें और नाक। देखते ही एक अनजान प्यार दिल में उमड़ने लगा। अधखुली आँखों से संसार को देख रहा था वह मासूम, अबोध, अनजान शिशु! भंगिन न देखती तो नन्हीं-सी जान''''चुपचाप मर जाता। लेकिन है कितना प्यारा! अभी संसार की क्रूरता और विषमताओं की छाया उस पर नहीं पड़ी, संसार'''एक गहरी साँस हृदय से उठने को हुई। तभी पास वाले सज्जन की चुभती वाणी से चौंक गया।

"किसी को अपने पाप की कमाई रखने की जगह कहाँ मिली है—मन्दिर का दरवाजा!" कुटिलता से हँसते हुए वह कह रहे थे। कोट और पाजामा पहने थे, मफ़लर में बँधा उनका मुँह बनमानुस की शकल की याद दिला रहा था।

इधर-उधर के वातावरण को देखा—मिश्रित भावनाओं का एक विचित्र वातावरण था। भीड़ में स्त्रियाँ, पुरुष, बच्चे, बूढ़े, सभी थे।

"हाय, कैसा खूबसूरत बालक है!" एक स्त्री ने दयार्द्र होकर कहा।

"कौन कम्बख्त थी, यहाँ डाल गई!"

"देखा अम्माँ, छोटी-छोटी आँखों से टुकुर-टुकुर देख रहा है," एक पाँच-छः साल की लड़की ने कहा, "अम्माँ, इसे घर ले चल, यहाँ क्यों पड़ा है?" ललककर माँ की उँगली झटकते हुए उसने माँ के मुँह को देखा, "कौन लिटा गया है इसे यहाँ?"

माँ ने हाथ झटककर झिड़क दिया, "चुप भी रह!" एक हलकी लाली उसके साँवले गालों पर झलककर छिप गई। उसे छिपाने के लिए वह और अधिक तन्मयता से उसे देखने लगी।

एक युवक ने दूसरे के कंधे पर हाथ मारा—"देख लो यह तुम्हीं जैसे किसी लफ़ंगे की करतूत है, और क्या पता तेरी ही हो!" अपने मज़ाक पर वह खुद ही दाँत निकालकर हँस पड़ा। दो-तीन श्रोताओं

ने भी उसका साथ दिया।

जिससे कहा गया था, वह झेंपकर मुस्करा उठा, "चुप बे!" और वह अधिक व्यस्तता से बच्चे को देखने लगा, जैसे इस सबको सुनने की फुरसत नहीं है। लेकिन चोट कुलबुला रही थी, थोड़ी देर चुप रहकर बोला, "अबे साले, यह तो तुम्ही जैसे किसी का करम है कि आनन्द लूटा और हाथ झाड़कर अलग हो गए, अब भुगतना है जिसे सो भुगते।"

सारे वातावरण में एक विचित्र रहस्य, सहानुभूति, दिल्लगी व कुतूहल व्याप्त हो गए थे। एक व्यक्ति दूसरे की ओर देखता तो कुछ अजीब निगाह से, जैसे मज़ाक कर रहा हो। बिलकुल स्पष्ट था कि किसी विधवा या कुमारी के पाप का यह परिणाम है, जिसे समाज की नज़रों से बचाने के लिए उसने यहाँ छोड़ दिया है। लेकिन आखिर उसका कलेजा कैसा होगा? क्या उसका हृदय टुकड़े-टुकड़े होकर बाहर नहीं आ गया होगा? आखिर वह हिम्मत कैसे कर सकी? पता नहीं उस बेचारी पर क्या बीती होगी? उसकी विवशता, धँसी हुई आँखों से सिसकती कराहों के पिघलते लावे जैसे आँसू एक-एक बूँद करके टपकते दिखाई दिए और मैं इस कल्पना-चित्र से ऊपर से नीचे तक बिजली के करेंट के झटके की तरह सिहर उठा। कोई सहानुभूति दिखा रहा था, कोई मज़ाक कर रहा था। वैसे सबके सामने यही प्रश्न था कि इस बच्चे का आखिर होगा क्या?

एक वृद्ध ने टोपी उतारकर अपने सफ़ेद बाल दूसरे को दिखाते हुए कहा, "सफेद बाल तो हमारे हो गए, हमने तो अभी तक ऐसा अधर्म देखा नहीं।"

"हे भगवान्, अभी इन आँखों से न जाने क्या-क्या देखना और रह गया है!" दुःख से विह्वल होकर दूसरे वृद्ध ने कहा।

"हमें तो राम अब उठा ले बाबा, ऐसा कलजुग तो देखा नहीं जाता," पहले बोले, "आजकल तो जो न हो जाय सो ही थोड़ा है।"

भीड़ में अपना सिर छिपाकर किसी ने आवाज़ कसी, "बाबा ये सब तुम्हारे ज़माने की ही तो बाते है, अभी हम लोगों का ज़माना आया कहाँ है ?"

बाबा नाराज हो गए और उस ओर ऐसे देखा जैसे नजरों से ही इस बात को कहने वाले को भस्म कर देंगे, "अरे लौंडो, सब तुम्हारी ही करतूतें हैं !"

"अच्छा, यह बहस तो छोड़ो, अब यह बताओ कि होगा क्या इसका ?" अधेड़-सी उमर के एक व्यक्ति ने पूछा। अपने सिलेटी शाल और कत्थई रंग के ऊनी कपड़ों में वह इस मुहल्ले का प्रमुख व्यक्ति मालूम होता था।

"अनाथालय वाले ले जायँगे, ज़्यादा हुआ तो पुलिस वाले ले जायँगे।" एक ने उत्तर दिया।

तभी भीड़ के दूसरे सिरे से किसी ने मज़ाक-भरी आवाज़ में पुकारकर कहा, "सरन बाबू, तुम ले जाओ इसे। तुम्हारे कोई बाल-बच्चा भी नही है, पाल लेना इसे। बेचारे का उद्धार हो जायगा।"

पास ही किसी ने प्रार्थना के स्वर में कहा, "हाँ, सरन बाबू, तुम्हीं ले लो न ! अनाथालय वालों के पास पहुँच गया तो उलटा-सीधा खाना देंगे और दयानन्द का डका बजवाते हुए दरवाज़े-दरवाजे भीख मँगवाएँगे। और क्या पता बीच में ही मर जाय—उनके घर से क्या जाता है ? पुलिस वालों का भी क्या ठीक है, वे भी किसी अनाथालय में ही जाकर डाल आएँगे।"

इससे पहले कि सरन बाबू कुछ उत्तर दे, एक सज्जन ने दार्शनिक स्वर में कहा, "क्या रवैया है, साहब, दुनिया का भी—पाप किसी ने किया और भोगो कोई। अब यह बेचारा फिरेगा मारा-मारा।"

सभी लोग आशा से उत्सुक होकर एकदम सरन बाबू की ओर ही देखने लगे। इस अप्रत्याशित प्रहार से सरन बाबू अचकचा उठे। झुँझलाकर कहा, "अच्छा मज़ाक है ! कोई बाल-बच्चा नही है तो

सड़क से उठाकर डाल लूँ ? तुम भी लालाजी, क्या बातें करते हो ! अब इसकी जात का पता नहीं, पात का पता नहीं। मेरी बीवी तो घुसने भी नहीं देगी—किसका बच्चा उठा लाए !"

"हाँ, यह बात तो है।" गम्भीरता से सोचते हुए बहुतों ने सिर गिरा लिए, "पता नहीं किस जात का है ?"

एक गाँव के-से धर्मप्राण आदमी ने पास वाली बुढ़िया को समझाया, "हाँ, ठीक कह रहे हैं बाबूजी। ज़रा-सा बच्चा, क्या पता लगे किस जात का है ? बोल सके नहीं, बता सके नहीं। माथे पर उसके लिखा नहीं कि फलां जात का है। भंगी, चमार, ठाकुर, बामन—पता नहीं किस जात का है। और कौन जाने मुसलमान ही हो, कोई कैसे ले ले ?" फिर बड़े निराश होकर वह वीतराग महाशय घर की ओर चल दिए।

"हाँ-हाँ, ठीक है," बुढ़िया ने स्वगत कथन करते हुए राय दी, "राँड थी कैसी ? यहाँ बीच सड़क पर डाल गई है। अरे, सब अन्धे हो जायँ जवानी में। आगे देखें न पीछे, अब तो किसी की लिहाज-शरम रही ही नहीं।" अथाह दुख उसके प्रत्येक शब्द में कराह रहा था।

प्रत्येक व्यक्ति इस बात को इस तरह ले रहा था जैसे संसार में यह घटना बस पहली ही बार हुई है और कभी किसी भी व्यक्ति के जीवन में कम-से-कम उसकी आँखों के सामने, ऐसी घटना हुई ही नहीं थी। और इस समय तो बस स्तब्ध रहने के अतिरिक्त वे कुछ कर ही नहीं सकते। भीड़ के बुड्ढे-बुढ़िया या कुछ और भी व्यक्ति भीड़ से ज़रा हटकर एक-दूसरे के अधिक-से-अधिक पास मुँह ले जाकर, धीमे-से-धीमे स्वर में बात को, इस सामने पड़े बच्चे से, अपने पास-पड़ोस के जान-पहचान वालों के घरों में ले गए थे—फलाने की बहू का अपने देवर से क्या सम्बन्ध है, ससुर से कैसे बेपर्दगी करती है, जेठ के सामने कैसे मुस्कराती है। उसकी लड़की या बहन कैसे उस लड़के को देखकर हँस रही थी, चिट्ठी की गोली बनाकर फेंकते अपनी आँखों से देखा। —और भी न जाने कौन-कौनसे जाने-अनजाने रहस्य। हालाँकि उनमें

से एक बात कह लेने के बाद अपने घर की बात मन-ही-मन ज़रूर सोच लेता था।

"जात-पात से तुम्हें क्या है, सरन बाबू? ले जाओ, अब इस बच्चे की क्या जात?" एक सुधारवादी ने राय दी।

"वाह यह अच्छी कही!" सरन बाबू चिढ़कर बोले—"किसी का पाप मैं क्यों घर ले जाता फिरूँ? और जात-पात से होता कैसे नहीं है? हम तो मानते हैं।"

"तो पता लगा लो न, किस जात का है? है कोई टैस्ट ट्यूब!" उस आदमी ने सरन बाबू को चुनौती दी—"सीधी-सी बात कही और बाबूजी उस पर ऐंठने ही लगे। अरे, हम ज्यादा बखेड़ा जानते ही नहीं। पाप हो या पुण्य, सीधी-सी बात जानते हैं—आदमी का बच्चा है, कैसा फूल-सा मुस्करा रहा है! तुम जात और रख दो अभी से उसकी छाती पर!" शायद वह सरन बाबू से पहले से परिचित नहीं थे।

"जात छाती पर नहीं रख दी, तो तुम क्यों नहीं ले जाते?" एक रुई की फतोई और कनटोपे वाले अधेड़ उमर के व्यक्ति ने सरन बाबू का पक्ष लिया।

"जी हाँ, छः बच्चे घर पर न होते और सौ की बजाय कुछ भी तनख़ाह ज़्यादा होती तो मैं ले जाकर भी दिखा देता," वह बोले।

तभी पास बैठी भंगिन ने ज़रा ललकार-भरे स्वर में कहा, "कोई नहीं ले जा रहा तो, बाबूजी, मैं ले जाऊँ? अपने मुहल्ले में दे दूँगी किसी को। कोई-न-कोई तो ले ही लेगा।" बात उसने ख़ूब ऊँचे स्वर में सब को सुनाकर कही थी।

सब चुप थे, लेकिन इस बात को मन-ही-मन किसी ने भी स्वीकार नहीं किया कि इस बच्चे को भंगिन ले जाय। रंग ख़ूब गोरा है, हो सकता है किसी ऊँची जाति का हो। भंगिन की इस बात का सभी एक स्वर से विरोध करना चाहते थे। लेकिन विरोध कर तो दे, पर फिर ले कौन?

सरन बाबू ने कुहनी का इशारा किया और धीरे से मुँह को इस तरह झटका कि चलो इस बेवक़ूफ़ी मे वक्त बरबाद करना मूर्खता है। और वह मेरी प्रतीक्षा न करके स्वयं मुड़कर चल दिए। लाचार मुझे भी लौटना पड़ा, वरना मेरी प्रबल इच्छा अगली बात देखने की थी। लेकिन सरन बाबू बहुत अधिक क्षुब्ध हो उठे थे। यह उनके मुँह की मुद्रा से साफ़ था। इस समय मेरे रुकने से वह बहुत बुरा मान जायँगे।

भीड़ से अलग आकर उन्होंने भुनभुनाते हुए कहा, "हूँ, ! मैं ही वेवकूफ मिला !"

मैने कुछ नही कहा, चुपचाप चलता रहा। मेरे भीतर एक विचित्र क्षोभ और आन्दोलन उमड़ पड़ा था। वाकई कितना मुश्किल प्रश्न है ! एक बच्चा है लावारिस, बोल नहीं सकता, बता नहीं सकता—कैसे पता लग सकता है कि उसकी जाति क्या है ? मुझे सरन बाबू के सारे तर्क व्यर्थ लगे। अब रंग और रक्त की परीक्षा करके क्यों नहीं बताते कि यह बच्चा ब्राह्मण है या मुसलमान ? अंतरतम मे मैं प्रसन्न था—अच्छा हुआ।

वह जगह आ गई जहाँ हम लोगो को अलग होना था। बीच में आई उस उत्तेजना को सरन बाबू दबाकर अब भरसक प्रकृतिस्थ होने का प्रयत्न कर चुके थे। अब उनके मुँह पर ऐसा भाव था जैसे कुछ हुआ ही नहीं।

विदा होते हुए उन्होंने कहा, "अच्छा भई, तो कल फिर चलेंगे घूमने।"

"हाँ, ज़रूर,-ज़रूर।" मैंने उनका बढ़ा हुआ हाथ अपने हाथ में लेकर उन्हें आश्वासन दिया।

थोड़ी दूर चलकर वह फिर लौटे। बोले, "और सुनो भई, इन जैक्सन-फैक्सन के चक्कर में मत आना, पिल्ला मैं ले जाऊँगा, समझे ?"

"अच्छा !" मैंने अन्यमनस्क होकर उत्तर दिया।

रोशनी कहाँ है

रोशनी कहाँ है

वाकई बिस्सो बाबू आज परेशान था। इतने विश्वास का परिणाम यह हुआ ? भूखे मरते उस सोभा को खिलाया-पिलाया, रखा, और अब यों धोखा देकर चला गया। हाथ में दूध का गिलास और ताली लिये जब वह आया तो दूकान के तख्ते लगे हुए थे लेकिन छड़ बाहर नहीं लगी थी—उसका माथा ठनका। आज तो वह बाहर छड़ और ताला खुद अपने हाथ से लगाकर गया था। रात को काफ़ी देर तक सोभा की राह देखी और फिर निराश होकर एक रात मजा चखाने के विचार से ताला लगाकर घर आ सोया था। उसका दिल धक् से रह गया—पता नहीं आज क्या दुर्घटना उसकी प्रतीक्षा कर रही है ? उत्सुकता के मारे फटे जाते हृदय को दाबे, उसने जल्दी से दूकान के दो तख्तो को निकाल-कर बाहर एक ओर रख दिया। अभी तक मन में कहीं यह आशा थी कि हो सकता है सोभा के हाथ कहीं से ताली पड़ गई हो और वह भीतर

जा सोया हो। झाँककर देखा, कोई नहीं था। जब वह भीतर घुसा तो उसकी आँखों में अँधेरा इस तरह नाच रहा था जैसे कुतुबमीनार से उसे किसी ने धकेल दिया हो। रैस्टराँ की अलमारी की हर चीज़ इधर-उधर गड़बड़ पड़ी थी और चाय के पुड़े, दियासिलाई के बंडल—सभी कुछ ग़ायब थे। चूहों के डर से जिन मर्तबानों को वह फूटे शीशे वाले शो-केस में बन्द कर गया था, उनमें न तो डबल रोटी थी, न केक-पेस्ट्री, न बन। गिलास उसने एक ओर रख दिया, जैसे हाँफते हुए हताश भाव से इधर-उधर देखकर वह बड़बड़ा उठा, "सफ़ाया कर गया सारी दूकान का !"

जैसे-तैसे बैंच पर बैठकर उसने एक बार सूनी आँखों से अपने उस दूकाननुमा रैस्टराँ में लगाई गई अँगीठी को देखा, काउण्टर को देखा, खुली अलमारी के धुएँ और गन्दगी से काले दोनों पटों को देखा, खाली ख़ानों को देखा, धूल से अटे शो-केस, पर तीनों ख़ाली मर्तबान, गाँधीजी के बन्दरों की तरह रखे थे—और वह सोच कुछ नहीं पाया, सोडावाटर की गैस के ज़ोर से बोतल के मुँह में आ फँसने वाली गोली की तरह एक बड़ा-सा गोला न जाने कहाँ से उठकर उसकी छाती में आ फँसा। हर आदमी उसके विश्वासों को नोचकर फेंकने के लिए ही पैदा हुआ है। कोई नहीं चाहता कि उसकी कोमल भावनाओं को एक क्षण भी सुरक्षित स्थान मिले। आख़िर ये सब लोग चाहते क्या है ? क्या चाहते हैं ये लोग ?

रास्ते-भर वह अन्ना को गालियाँ देता आया था, कोसता आया था। ज़रा भी समझना नहीं चाहती, इतनी देर रोक लिया, पता नहीं कितने आदमी लौट गए होंगे। लेकिन इस क्रोध के भीतर एक दृश्य बिजली की कौंध की तरह रह-रहकर चमक उठता था, और उस दृश्य की हर चमक पर उसे ऐसा लगता जैसे कोई बड़ी निर्दयता से उसकी छाती में छुरा घोंप देता हो। वह क्रोध के कृत्रिम आवरण के नीचे उसे दबाने की कोशिश करता। एक तो यह दूकान ही ऐसे कोने में है कि

नया आदमी देख ही न पाए, फिर बँधे-बँधाए उसके ग्राहक। आखिर वह ज़रा-सी बात क्यों नहीं सोच पाती ? क्यों आज वह ज़िद कर बैठी ? ज़रा भी तो सब्र नहीं होता था। ख़ास-ख़ास आदमी सब इस समय तक लौट गए होंगे और इस समय वह ज्वार, एक उफान बनकर उसकी छाती में घुटने लगा, घोटने लगा।

वह बैठा रहा। उस उफान और उबाल के बावजूद उसके मन में कहीं कोई चीज़ थी जो स्थिर और अलिप्त थी—एक सहज विवेक, जो कह रहा था—जो हो गया सो हो गया, अब उठो, देर हो रही है। अँगीठी जलाओ, झाड़ू-बुहारी करो, यों हताश बैठने से तो जो हो गया, लौटा नहीं आता। जैसे इस ज्ञान को झुठलाने को ही वह और भी ज़ोर से ज़िद किये बैठा रहा—नहीं, मैं नहीं उठूँगा, योंही बैठा रहूँगा; योंही रात तक !····अब यह मज़ाक बहुत अधिक नहीं चलेगा।

"अमाँ, बिस्सो बाबू, ये क्या नमाज़-सी पढ़ रहे हो, उधर अलमारी की तरफ मुँह करके ? आज सोते ही रह गए ? बहुत प्यार किया क्या भाभी ने ? ये तीसरी बार आया निगम हुज़ूर की दरगाह में।" निगम ने बीड़ी का आख़िरी कश खींचा, झटके से उसे वहीं नाली में फेंका और दूकान में घुसते हुए बोला, "सब लौट गए एक-एक बार, और यार तुम हो बड़े लापरवाह आदमी। दूकान यों खुली छोड़ गए, अभी आकर मैंने देखा। भाई मेरे ज़माने अब वह नहीं रह गए। एक तो निकल कर अब आए और अभी भी ऊँघ रहे हो। रात-भर जागे थे क्या ? अब उठो, भले आदमी की तरह अगीठी-वँगीठी जलाओ।"

एकदम बिस्सो के हृदय में बड़ी प्रबल इच्छा हुई कि अपनी सारी शक्ति से इस कमीने की पीठ पर एक दुहत्थड़ दे—धकेलकर बाहर निकाल दे उसे। और खूब उछल-उछलकर नाचे, बड़े आये हमारी भलाई देखने वाले ! बैठे-बिठाए यहाँ पच्चीस-तीस का नुकसान हो गया। अब ये रुपये कहाँ से आएँगे ? अभी थोड़ी देर में चायवाला गाड़ी लेकर आयेगा, दियासलाई वाला आयेगा। सबसे ऊपर ज़रा-से दूध के लिए, ढाई आने

के दूध के लिए वह जो व्यवहार अन्ना से कर आया है, वह जैसे अनजाने रूप से हर क्षण उसकी साँस घोट रहा है—चाहे जो कुछ हो, उसे अमल के लिए दूध पहुँचाना ही है। आज वह काम नहीं करेगा।

"आदमी तुम निहायत ही सुस्त हो भाई, ऐसे कहीं कोई काम चलता है। आज ऐसी ख़ास बात क्या है, रात को जो नम्बर लगा आए थे फीचर में, वह आया नहीं क्यों ?" निगम ने उसके कंधे पर हाथ-मार कर कहा—"यार मेरे, ऐसी-ऐसी बातों पर सोचोगे तो हो गया !"

बिना निगम की इन बातों की प्रतिक्रिया दिखाए भीतर-ही-भीतर खौलता हुआ बिस्सो बाबू धीरे से उठा। मरी चिड़िया के पंखों-से खुले अलमारी के दोनों किवाड़ बन्द कर दिए। एक-एक तख़्ता उठाकर भीतर एक ओर लगा दिया, कल तक इसमें ऊपर तक दियासलाइयाँ, मोमबत्तियाँ, सिगरेट के डिब्बे, चाय के पैकेट रखे थे, आज वह खाली थी। शो-केस को सामने वाली दीवार पर अलमारी के ऊपर टाँगा। एक के ऊपर एक रखे मूढ़े और कुरसियाँ मेज के तीनों तरफ लगा दीं। दीवार की तरफ बैंच को साफ कर दिया। निगम चुपचाप बाहर आकर सिगरेट पीने लगा। जब आले में उसे सिगरेट का पैकेट दीख गया तो हाथ बढ़ाकर उसे उठाया और बाहर छजली पर इस तरह आ गया जैसे दूकान ठीक करने से उड़ने वाले धूल-धक्कड़ से परेशान होकर बचने को आ गया हो। लेकिन उस पैकेट में एक ही सिगरेट थी। अत्यन्त गहन चिन्तन की मुद्रा में, दोनों हाथों को पाजामेनुमा पतलून की जेबों में ठूँसे, सिर झुकाए वह छजली पर घूमता रहा।

रद्दी कागज़ की सहायता से बिस्सो बाबू ने अँगीठी सुलगा ली थी, उसमें से खूब धुआँ निकलने लगा था। अंगीठी सुलगती रही और वह मेज-कुरसी की धूल झाड़ता रहा, फिर वह टीन के टुकड़े से फटाफट अगीठी धोंकने लगा। जब धूल और धुआँ दोनों कम हो गए, तो निगम पुनः नमूदार हुआ।

"अमाँ बिस्सो बाबू, आज तुम्हारा सोभा नहीं दिखाई दे रहा। न हो

तो निगम ही लपककर ले आए दूध—कहाँ है गिलास?" निगम बैठ गया।

"सोभा साला भाग गया!" पानी भर लाने के लिए नीचे झुककर बाल्टी उठाते हुए बिस्सो बाबू ने कहा।

"भाग गया! कुछ ले तो नही गया?" निगम ने चौंककर पूछा।

"जब भागना ही है तो कोई चीज़ छोडे ही क्यों?" खिसियानी-सी हँसी बिस्सो के स्वर में झनक उठी—"निगम सा'ब, उसने कोई चीज नहीं छोडी! अभी तो आकर मैंने देखा है।"

"ऐं!" निगम ज़रा उत्तेजित हुआ—"और तुम यों ही बैठे हो चुपचाप!"

"तो क्या सारे बाज़ार में गाता फिरूँ?" एकदम बिस्सो के दिमाग में आया, कही यही महाशय तो सुबह सफ़ाया नहीं कर ले गए? वरना उन्हें क्या मालूम कि दूकान खुली है? वह बाल्टी लेकर पानी भरने जाते हुए एकदम रुक गया। उसने मुड़कर देखा।

"पुलिस में रिपोर्ट करो। अपने-आप बँधा-बँधा फिरेगा।"

"हुँ, ले गया होगा मुश्किल से बीस-पच्चीस की चीजें और पुलिस वाले पचास रुपये झटक लेंगे।" और वह बिना उत्तर की राह देखे नल से पानी भर लाने चला गया। नहीं, निगम नहीं कर सकता, जब से १०९ में पकड़ा गया है तब से रात में निकलता ही नहीं है, दिन-दहाड़े ले जाने की हिम्मत नहीं है।

नियमानुसार निगम ने चीनी के डिब्बे से दो फंकियाँ लगाईं और मुँह पोंछते हुए अपनी जगह इस तरह आ बैठा जैसे कुछ हुआ ही नहीं। बाल्टी लाकर बिस्सो बाबू ने केतली चढ़ा दी और दूध का नीचे रखा हुआ गिलास उठाकर खुद दूध लेने चला।

"अरे, तुम क्यों जा रहे हो, लाओ इधर लाओ!" निगम ने उसी तरह बिना जरा भी उठने की इच्छा दिखाये हुए या हिले-डुले सिगरेट फूँकते हुए कहा। फिर एकदम विषय बदलकर बोला, "सोभा भाग गया, अरे बिस्सो बाबू, निगम जो कह दे उसे पत्थर की लकीर समझना।

निगम तो पहले कह सकता था कि वह रहने वाला आदमी था ही नहीं। लाओ, लाओ न !"

"नही निगम साहब, तुम आधा पीकर इसमें पानी भर लाओगे, और इसी दूध की वजह से सुबह-ही-सुबह आज बीवी से लड़ाई हो गई।" बिस्सो के स्वर में कड़वाहट थी। कुछ सोचता-सा वह उतरकर चला गया।

"तुम भी यार, उस बेचारी से हर समय लड़ते रहते हो।" उसकी पीठ को सुनाकर निगम ने कहा और मुँह से धुआँ निकालते हुए फिर एक बार चीनी के डिब्बे की ओर देखा। बिस्सो बाबू की बात का उसके ऊपर कोई असर नही पड़ा था।

तभी काठ की सीढ़ी पर पाँव रखा जसवन्त ने।

"हलो-हलो, जसवन्त बाबू, निगम साहब तुम्हारी कितनी देर से राह देख रहे हैं, आओ।" सामने से आते जसवन्त की बगल से सिगरेट का टोंटा फेंकते हुए दोनों हाथ फैलाकर निगम ने उसका स्वागत किया।

"हाँ यार, ज़रा देर हो गई।"

"तुमने तो कह दिया देर हो गई और निगम साहब तुम्हारे इन्तज़ार में सूख-सूखकर हाथी रह गए।" निगम पूर्ववतः बैठ गया, फिर ज़रा धीरे से बोला, "कोई केक-वेक रखा हो तो देखियो, एकाध निगाह से चूक गया हो, उस सोभा की से।"

"आज तो कुछ भी नहीं है।" इधर-उधर झाँककर जसवन्त ने हाथ का पंजा नकारात्मक ढंग से हिलाया, "सब मर्तबान भी ख़ाली हैं, दूकान कुछ खाली-खाली-सी लगती है।" फिर हाथ की दो फटी-फटाई-सी किताबें ज़ोर से मेज़ पर पटककर धम् से लोहे के मूढ़े पर बैठ गया।

"आज तो यार, बिस्सो बाबू की हजामत सोभा कर गया, ऐसी झाड़ू लगाई है कि कुछ नही छोड़ा।" निगम बोला, फिर दूध लेकर आते बिस्सो को सुनाकर कहा, "कुछ हो यार, यह बिस्सो है सीधा आदमी।"

"जी हाँ, बिस्सो बाबू सीधा तो है ही, तीस-तीस रुपये की चाय जो उधार कर चुका है न! साफ सुन लो निगम साहब, और जसवंत बाबू तुम भी, एक बूँद चाय की नहीं दूँगा, आज।" बिस्सो अपनी टूटी मेज़ के काउण्टर पर आ खड़ा हुआ। पास ही चढ़ी केतली में पुड़िया से निकालकर चाय डालने लगा।

"अमाँ बिस्सो बाबू, आर्टिस्ट लोगों से जब तुम यों दिल फटने की बातें करते हो, तो ईमान से हलफ उठाकर कहता हूँ कि खुदकशी कर लेने को जी चाहता है। अरे, एक प्रोग्राम लगने दो कहीं, निगम तो सब चुका देगा, सब एक साथ। अब तुम्हारा एक साला शहर भी तो ऐसा है, साले में एक रेडियो भी तो नहीं है। फिर भी यह याद रखो, निगम किसी का अहसान नहीं रखता।" निगम अत्यन्त ही बेबाकी से बोला। उसने जसवंत को आँख मारी।

"नही बिस्सो बाबू, तुम दो चाय दो, मैं तुम्हें दूँगा सारे पैसे।" जसवंत ने कहा।

"नक़द ?" बिस्सो बाबू ने घूरा।

"जी, बिलकुल नकद, लो पेशगी।" और उसने जेब से चवन्नी निकालकर बड़े अन्दाज़ से उसकी ओर फेंक दी। और उस ओर से ऐसे आँख फेर ली जैसे बैरे को टिप दे दी हो।

"अच्छा।" इतनी देर बाद बिस्सो मुस्कराया—"आज तो गहरे में हो, कहाँ हाथ मारा ? किसी की साइकिल उड़ा दी या किसी का हिस्सा मिला ?"

"सब तुम्हारी ही तरह हैं न! अरे लाख बेकार हों, कुछ-न-कुछ करते ही हैं। ट्यूशन के मिले है, जाते हैं एक जगह सितार सिखाने—हफ़्ते में दो बार।" रोब से जसवंत ने कहा और वह कमीज़ से अपना चश्मा पोंछने लगा।

"तब तो दोस्त, अपने हिसाब से भी कुछ दिला दो, पैंतीस हैं, पाँच ही सही। कसम से, बड़ी ज़रूरत में हूँ। एक वह रखा था सोभा, सीधा-

सादा समझकर, सो साला सब चौपट कर गया।" बिस्सो के स्वर में प्रार्थना आ गई, चाय तैयार करके दो कप उनके सामने रखते हुए कहा। एक गिलास अपने लिए उसने नही बनाई। मन में बड़ी कड़वाहट थी, इच्छा ही नहीं हुई।

"इस वक्त नहीं, दे दूँगा बिस्सो बाबू, जल्दी ही।"

"तुम्हारी जल्दी को तीन महीने तो हो गए।" वह मुरझा गया।

जसवत और निगम एक-दूसरे की आँखों मे देखते हुए चाय पीने लगे। दोनो प्लेट में डाल-डालकर पीते रहे। बिस्सो चुपचाप खड़ा सोचता रहा। उसने फिर कुछ नहीं कहा। चवन्नी कान में लगा ली। कहीं दूर देखता रहा। लोगो के लिए जीवन आशीर्वाद बनकर आता है, उसके लिए तो जैसे विषैले धुएँ के बादल की तरह घिर उठा है। कितने दिन हो गए उसे, जब से वह सिर्फ बीते हुए कल और आज की मशीन बनकर रह गया है। उसे फुरसत ही नही मिल सकी कि सिर उठाकर आने वाले कल को देख सके। आज वह व्यर्थ ही अन्ना से बुरी तरह पेश आया। पता नही क्यों, उसे इतनी जल्दी क्रोध आ जाता है। ज़रा वह अपने को दबा नही सकता। जिन्दगी में आज के अपराध को वह कभी नही भुला सकेगा····कभी नही। पता नही कहाँ लगी होगी। धकेल दिया···क्रूर, नीच····। अमल को कहाँ लगी होगी जाने! वह मुझसे गलत क्या कह रही थी आखिर? वह भी बेचारी कब तक चुप रहे? इस अँधेरे का तो शायद कहीं छोर नही, कोई सिरा, कोई अन्त नही है। वह आने वाले कल के उजाले के लिए कसमसाती है, तड़पती है, और जब कोई आशा नहीं देखती तो चीख़ उठती है। और वह इस इच्छा को दबा देता है, घोट लेता है, कुचल देता है। पता नहीं यह रोशनी कहाँ है? कौन हिरण्यकशिपु उसे धरती की तरह ले गया है—हिरण्यकशिपु····और बैठे-ठाले यह सोभा आ मरा···

"अरे भाई, ये सारी बातें फिर कभी सोच लेना। कब के हम तुम्हे सिगरेट दे रहे है बिस्सो बाबू!" जसवंत ने कहा तो वह चौका। उसके

हाथ से सिगरेट ले ली। देखकर बोला, "ओहो कैप्सटन है, यार आज तो मामला कुछ ऊँचा है, तुम चाहे बताओ मत।" कागज़ के एक टुकड़े को अँगीठी में लगाकर उसने सिगरेट जलाई। कश खींचकर बोला, "आज तो यार अपनी किस्मत खुल गई, मास्टर जसवन्त ने सिगरेट पिलाई है।" हाथ हिलाकर उसने जलता कागज़ बुझाकर फेंक दिया।

"अच्छा बिस्सो बाबू, अब चले, थोड़ी देर में आएँगे।" जसवन्त और निगम सिगरेट फूँकते चले गये। बिस्सो अपनी कॉपी उठाकर देखने लगा जो 'उधार-उधार' से भर गई थी।

तभी रैस्टराँ में झाँकता हुआ किशोरी सड़क से जाता दिखाई दिया।

"अरे किशोरी भाई, सुनो तो, तुम्हें देखे तो बरसों हो गए।" चौंककर बिस्सो ने पुकारा।

किशोरी ने भीतर प्रवेश किया, वह जैसे किसी को खोज रहा था। घुसते ही बोला, "बिस्सो बाबू, जसवन्त कहाँ है?"

"जसवन्त? जसवन्त से तुम्हारा क्या? अभी तो गया है। तुम हमारा एक काम करो यार, यह लो चवन्नी और यह गिलास। चवन्नी का दूध ज़रा हमारे घर दे आओ।"

"दूध तो मैं दे आऊँगा, तुम यह बताओ, जसवन्त तो नहीं लाया कुछ यहाँ?" उसने घबराकर पूछा।

"कुछ? कुछ क्या? वह तो किताबें लेकर आया था, सो चला गया।" उसने चवन्नी को गिलास में डालकर उसकी ओर बढ़ाते हुए कहा।

"ये अच्छा रहा, वह मेरा यार मुझे एक अण्डी की चादर दिलाने वाला था, निगम और वह कल मुझसे रुपये लाए है।"

"है!" बिस्सो बाबू ने उसे देखा और ज़ोर से हँस पड़ा, "तो दोस्त तुम फँसे, तभी तो मैं सोच रहा था कि ये रुपये आए कहाँ से। चाय के पैसे उसने ज़िन्दगी में कभी दिये नहीं, कैप्सटन सिगरेट।" उसने उँगलियों

के बीच में दबी सिगरेट दिखाई और धुआँ निगलकर बोला, "जाओ हाथ धो लो उन रुपयों से।"

किशोरी की आँखें फटी रह गईं और वह रुँआसा हो आया—"मुझे कुल तीस रुपये महीने-भर में मिलते हैं। उस निगम ने कहा था कि बहुत बढ़िया चादर है। बस ज़रा इस्तेमाल की हुई है। जसवन्त के पास है, दस रुपये में दिला दूँगा। चादर उसने दिखाई भी थी।"

"वह चादर भी उड़ा लाया होगा कहीं से।" बिस्सो बोला, "अच्छा ज़रा ठहर, अभी जसवन्त आता होगा तब पूछूँगा तेरे सामने ही।"

कृतज्ञता के बोझ से दबा हुआ किशोरी गिलास लेकर चला गया। चवन्नी देते हुए एक बार बिस्सो का हाथ काँपा—क्या पता दूध भी यह घर देकर आयेगा या नहीं ! उसे एक क्षण ऐसा लगा जैसे इस युग में, समाज में वह एक विचित्र तरह का आदमी है, जो अपने-आपको हर जगह अनफिट पाता है, जो आउट-आफ़-डेट है—इन सबके बीच में एक अपरिचित। हर आदमी सिर्फ अपनी ही बात सोचता है, एक इंच दूसरे की नहीं सोचता, न ही सोचना चाहता। वही क्यों दूसरों की बातें सोचता है, क्यों उसके भीतर यह कमज़ोरी है कि वह आदर्श और नैतिकता जैसी चीजों को छाती से चिपकाए हुए है ? आखिर यह बुराई और भलाई, आदर्श और नैतिकता सब सापेक्ष चीज़ें ही तो हैं—सब चीज़ें अपने ही लिए तो है।

और वह अनमना-सा अपना काम करता रहा। शर्माजी आये, रेखा और नीलाम्बर आये, कपूर और और गोस्वामी आये। सुबह के हर ग्राहक ने जब कुछ खाने की चीजें माँगी तो उसने अत्यन्त ही भरे स्वर में मना कर दिया कि ये सब चीजें खत्म हो गई हैं और दे जाने वाला अभी आया ही नहीं है। वह उल्टी-सीधी बातें सोचता रहा—घर की बात, किशोरी की बात, अपने आस-पास की बात। कभी-कभी आने वालों की कोई बात उसके ध्यान को भंग कर देती, फिर वह अपने में डूब जाता, नहीं तो मशीन की तरह काम किये जाता।

जसवन्त चुपचाप आकर बैठ गया।

"देखो जसवन्त, यह हरकत तुम्हारी निहायत ही खराब है। तुम्हें कोई और नहीं मिला, तुमने उस बेचारे किशोरी को दस रुपये से मार दिया। मैं यार, तुमसे इसीलिए डरता हूँ। आज का दिन खाली नहीं जाने दिया न !"

"मैंने ? कौन कहता है ?" जसवन्त तेज़ी से बोला, "मैंने उससे कुछ भी नहीं लिया, मुझे पता भी नहीं। कुछ कहने के पहले पता लगा लिया करो बिस्सो बाबू !"

"किशोरी खुद कह रहा था। तुमने कोई चादर देने का वायदा किया था—निगम ने और तुमने ?"

"हाँ, चादर देने का वायदा किया था निगम ने, उसे ही मालूम होगा। रुपये उसी ने लिये होंगे—वह साला बदमाश ! मुझे उससे क्या ?" जसवन्त जैसे उठकर खड़ा हो गया।

"तुमने नहीं लिये ?" बिस्सो ने ज़रा तेज़ पडकर पूछा ।

"नहीं।" दृढ़ता से वह बोला, "तुम साबित करो।" फिर लापरवाही से कहा, "लिये होंगे, तो उस निगम ने लिये होंगे, चादर भी तो मेरे पास रखी है, रुपये कहाँ से ले लेता ?"

"निगम कहाँ है ?" बिस्सो ने दरोगा की तरह पड़ताल की। वह उसके सामने आ बैठा।

"मुझे नहीं मालूम, मेरे सामने तो चौराहे से पान खाकर चला गया था।" जसवन्त बैंच और मेज़ के बीच से तिरछा होकर निकलने लगा।

"खैर, पता तो लग ही जायगा जसवन्त बाबू, लेकिन कहे देता हूँ—ऐसी कोई बात हुई तो दूकान में फटकने नही दूँगा।"

जसवन्त ने कोई उत्तर नहीं दिया, उसकी भवें तन गईं। चुपचाप उतर गया, केवल एक बार उपेक्षा से मुँह हिलाकर। बिस्सो जानता था कि वह कहीं नहीं जायगा, अभी घूम-फिरकर अधिक-से-अधिक

आध घंटे में आ जायगा। यही उसकी आदत थी।

निगम को उसने दरवाज़े पर देखते ही कहा, "निगम साहब, रुपये दिलवाओ। यार गरीब-अमीर तो सोचा करो। किशोरी को तीस रुपये कुल तनख़्वाह मिलती है, उसमें से दस तुमने झटक लिए।"

अपनी बेंच को लक्ष्य करके चला जाता निगम एकदम चौंककर पलटा, "रुपये?"

"बनो मत निगम साहब?" बिस्सो ने सिर हिलाया।

"कैसे किशोरी के रुपये? निगम को क्या मालूम?" निगम बड़े ठाठ से बैठ गया।

"उड़ो मत, उड़ो मत निगम साहब, मुझे सब मालूम है।" निगम के हाथ से बीड़ी लेकर ख़ुद पीते हुए उसने कहा।

"बिस्सो बाबू, तुमने कुछ नशा तो नहीं कर लिया? सुबह से कुछ अजब बहकी-ब्रहकी बातें कर रहे हो। आज यह चक्कर क्या है? तुम ख़ुद सोचो, ख़रीदार किशोरी, चीज जसवन्त की, फिर उसमे दाल-भात में मूसलचन्द निगम कहाँ से आ मरा?"

"ये सब बातें तो यार उससे कहना जो तुम्हें जानता नहीं। तुमने सौदा पटवाया तो तुम्हारा हिस्सा न हो, यह मैं किसी हालत में नहीं मान सकता। जसवन्त ख़ुद कह रहा था।" बिस्सो बाबू ने एक तरह से प्रार्थना की, "दे दो यार, क्यों तंग कर रहे हो बेचारे को?"

"जसवन्त ख़ुद कह रहा था?" निगम का ढीला-ढाला शरीर एकदम तनकर बैठ गया, "साला, जसवन्त, बदमाश। अब साफ़ बता दूँ तुम्हें, ख़ुद हरामज़ादा सब रुपये लिये बैठा है, दूसरों पर इलज़ाम लगाता है, सुअर! निगम ख़ुद उससे रुपये लेने को भटक रहा है। निगम से पूछो उसकी पोल, दसियों साइकिलें इधर-से-उधर कर चुका है, वरना ये नक्शे सब चलते कहाँ से है!"

"तो तुम्हें नहीं मालूम?" बड़े आश्चर्य से बिस्सो ने पूछा। वह चकित था—"मुझसे तो भाई जसवन्त ने ही कहा है।"

"यों कहने से कुछ नहीं होता, निगम के सामने पुछवाओ, मुँह पर। बाद में तो राजा के बारे में भी लोग उड़ाते है। कोई ज़बान तो रोकता नहीं है किसी की।" निगम कड़का।

"मुँह पर पुछवा दूँ, अगर बात सच हुई तो क्या जुरमाना दोगे ?" बिस्सो ने भी तेज़ी से कहा।

"जुरमाना ?" निगम ज़रा ढीला पड़ गया—"जो तुम्हारे मन मे आए सो करना। हाँ उसके चाय-सिगरेट का गुनहगार तो निगम ज़रूर है, उसे हिस्सा समझ लो या कुछ और।"

"तो फिर इतना तेज़ क्यो पड़ते हो, अभी सब पता चला जाता है। जसवंत आ ही रहा होगा। तुम्हें तो पता होगा ही, कहाँ गया है।"

"निगम से मतलब ? चौराहे के बाद पता नही किधर निकल गया। निगम लगा फिरता है, उस लफंगे के साथ ? जिधर मुँह उठा चल दिया, अपना धन्धा-पानी करने गया होगा। बैंक या राशनिंग दफ़्तर में।" निगम बोला, फिर दाँतों से नाखून कुतरते हुए बड़बड़ाया—"इस तरह से बदनाम करेगा तो निगम साले से बात नही करेगा, आगे से।"

"तुम क़सम से कहते हो ?" बिस्सो ने फिर पूछा।

"निगम के हाथ मे यह अग्नि है। उसने बीड़ी दिखाई और उसका गुल झाड़ दिया। दोनो टाँगों को उठाकर उसने मेज़ पर फैला दिया, और पीछे पीठ टिकाकर अधखुली आँखो से बीड़ी फूँकने लगा, जैसे इन सब तुच्छ बातों से उसे कोई मतलब नहीं है।

"यार, तुम लोगों ने उस गरीब को मार डाला।" बिस्सो ने परेशानी से कहा—"अरे, ऐसे लोगों पर तो दया कर दिया करो।"

निगम फिर तड़पकर उठा झटके से—"यार बिस्सो, यही तो तुममें सबसे बुरी आदत है। किसी का विश्वास नहीं करते। निगम ज़बान से ही तो कह सकता है, सिर काटकर तो रख ही नहीं सकता। इससे ज़्यादा निगम क्या अपनी जान निकालकर रख दे कि बैठा है, आने

दो जसवंत को भी, अभी मुक़ाबला हुआ जाता है।" वह फिर अपनी पहली वाली स्थिति में हो गया, और स्वतः कथन के रूप में बोला—"लुच्चे, साले, बदनामी करते फिरते है। किसी भले आदमी को रहने नहीं देंगे दुनिया में।"

बिस्सो चुपचाप बैठा रहा। फिर अपनी अलग बीड़ी अँगीठी से जलाकर दरवाज़े पर खड़ा होकर सड़क को देखने लगा। भूरेलाल कंघे और कैंची फटकारते हुए किसी के बाल बना रहे थे। कैंची और ज़बान साथ, समान गति से चल रही थीं। कभी-कभी कैंची को पिछड़ना पड़ता था और हाथ रोककर वे अपनी बात सुनाने लगते थे। वहीं खड़े-खड़े उसने कहा—"अच्छा निगम साहब, एक काम करो, उन दूकान बन्द करने वाले तख़्तों के पीछे चले जाओ। जसवंत आ रहा है। मैं तुम्हारे सामने कहलवाए देता हूँ।"

"निगम क्या किसी से डरता है?" और निगम सचमुच एक ओर रखे दूकान बन्द करने वाले तख़्तों के पीछे जा बैठा।

"अबे, वहाँ तो बीड़ी मत पी, धुएँ से समझ जायगा।" बिस्सो ने धीमे से घुड़का।

निगम ने बीड़ी घिसकर बुझा दी।

जसवंत को देखकर बिस्सो ने कहा—"कहो जसवंत बाबू, कहाँ की विज़िट दे आये?"

जसवंत सिर झुकाए सुस्त और उदास चला आ रहा था—"विज़िट को कहाँ विलायत जाना था, वही रोड इन्स्पैक्टरी कर आए, सड़कों को नापना।" निराश स्वर में जसवंत ने कहा, और उसकी बगल से निकलकर भीतर आ बैठा। बिस्सो दरवाज़े पर ही खड़ा था। भीतर की तरफ़ मुड़ आया। जसवंत ने एकदम सिर झटके से उठाकर कहा, "बिस्सो, एक कप चाय नहीं पिलाओगे?"

"भाई कुछ तो रहम करो मुझ पर। आखिर मैं भी तो कहीं से खाऊँगा ही। तुम्हें मिलेगी पहली तनखा, तो मुझे पकड़ा नहीं दोगे।"

फिर एकदम विषय बदलकर बोला, "किशोरी बेचारे को तुमने पीस डाला न ?"

"मैंने ?" जसवंत तन गया, "सहने की अब हद हो गई है, बिस्सो बाबू ! आखिर तुम मेरे पीछे क्यों पडे हो ? तुम्हारी ही एक दूकान ज़रा बैठने की जगह है सो कहो यहाँ भी न आया करूँ। रुपये निगम डकार गया, खींचातानी मुफ़्त में मेरी हो रही है।"

"यार अजब उलझन है। निगम कहता है रुपये तुम ले गए, तुम कहते हो निगम। रुपये आखिर क्या फ़रिश्ते ले गए ?" बिस्सो सिर खुजाने लगा।

फ़रिश्ते नहीं, बिस्सो बाबू, रुपये ले गया है वह, जिसने किशोरी से लिये हैं।" जसवंत बोला—"निगम, निगम, निगम। मैं उसके मुँह पर कहूँगा। बदमाश, साले, रैस्कल, डफ़...."

"निगम साहब का आदाबअर्ज़ लीजिए, जसवंत बाबू !" बड़े लखनवी ढंग से छाती के पास पंजा हिलाकर सलाम करते हुए चतुरता से मुस्कराता निगम तभी तख्तों के पीछे से बाहर निकल आया, जैसे डिब्बा खोलते ही स्प्रिंग के सहारे दाढ़ीवाले बुड्ढे का खिलौना निकल आता है।

जसवंत एकदम फक् रह गया। उसका मुँह खुला और आँखें जैसे फटी रह गईं। सारी तेज़ी खत्म हो गई। फिर एकदम सँभलकर बोला, "तो जनाब यों छिपे हैं ! ये मेरे पीछे क्या पुछल्ला लगा दिया यार, साफ़ क्यों नहीं कह देते कि पाँच रुपये गटक गए हो।"

"अभी तो बिलकुल मुकर गए थे, अब पाँच पर आ गए।" निगम अपने पेटेण्ट स्थान बैंच पर आ जमा। विजेता की मुस्कान से उसका चेहरा खिला था।

बिस्सो आश्चर्य से दोनों के चेहरों की ओर देख रहा था। वह कल्पना कर रहा था कि दोनों में अब कुश्तमकुश्ता होगी। अब इस नाटक को देखकर बुरी तरह खिलखिलाकर हँस पड़ा—"अभी तो दोनों

एक-दूसरे को बुरी तरह गालियाँ दे रहे थे, कसमें खा रहे थे और अब मिलते ही मान गए कि उस बेचारे से छीनकर आधा-आधा खा गए हो।" फिर हँसना बंद करके बोला—"मैं तुम्हारी नस-नस जानता हूँ दोनों की। लाओ निकालो सारे पैसे बाएँ हाथ से। और जसवंत बाबू, वह चादरा किसका था जिसका सौदा हुआ था ?"

दोनों ने हारे हुए जुआरियों की तरह कुछ नोट और पैसे निकाल कर मेज पर रख दिए। बिस्सो गिनने लगा।

"अब छोड़ो भाई, यह किस्सा खत्म कर दो।" झेंपते हुए खुशामद के स्वर में जसवत ने कहा और दोनों ने दो तरफ़ मुँह फेर लिया। एक बार आँखे मिली, लेकिन हँस दोनों मे से कोई नही सका। बिस्सो गिनता रहा।

"लेकिन ये तो साढ़े नौ ही हैं ?" बिस्सो ने गिना, सिर उठाकर पूछा।

"तुम्हारे यहाँ चाय पी ली, सिगरेट और पान खा लिए। अभी सुबह ही तो लिये हैं।" जसवंत के स्वर में क्षमा-याचना ध्वनित हो रही थी।

"अच्छा खैर, लेकिन दोस्त, घरवालों को निशाना मत बनाया करो।" और उसने पैसे स्वेटर के नीचे जेब में डाल लिए। अँगीठी के पास आ गये।

तीनों चुप थे। निगम बैंच पर दीवार से पीठ टिकाकर बैठा काली छत ताक रहा था। लोहे के मूढ़े पर बैठा जसवंत दोनों कुहनियाँ मेज पर टिकाए, हथेलियों पर ठोड़ी रखे, पपडाए होंठों पर उँगली सहलाता एकटक मेज को देख रहा था। केतली चढ़ाकर बिस्सो बाबू चुपचाप कान कुरेद रहा था। दोनों इस तरह चुप थे जैसे वर्षों से कोई किसी से नहीं बोला हो, जैसे वे युगों से इसी तरह बैठे सोचते रहे हों। पहले बिस्सो थोड़ी देर तो उन दोनों की चालाकियों पर मन-ही-मन हँसता रहा। लेकिन जैसे-जैसे क्षण-पर-क्षण बीतते जाते, वह कभी-कभी आँख

उठाकर देख लेता, और उसके हृदय में इन दोनों के प्रति न जाने क्यों एक अनजान करुणा, कोमलता और ममता उमड़ती चली आ रही थी कि नासमझ बच्चों की तरह दोनों को छाती से लगाकर समझा दे, उनके आँसुओं को पोछ दे। वे बेचारे भी आखिर करें क्या? आखिर कब तक बेकारी और नैतिकता के संघर्ष को सहते रहें? यदि वास्तव में किशोरी से उसका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध न होता तो वह फिर सारे पैसे उन्हें वापस लौटा देता…

एक गहरी साँस लेकर अचानक जसवन्त उठा, "अच्छा बिस्सो बाबू, चले अब।"

"बैठो, तुम्हारे लिए चाय बन रही है।" कुछ स्नेह की आत्मीयता से उसने कहा।

"पैसे नहीं है।" जसवन्त का स्वर बड़ा निरीह था। निगम ने वहीं लेटे हुए गरदन घुमाकर उधर देखा। उसकी आँखों मे कातर द्रवता उतर आई थी।

"देखी जायगी।" उसने तीन कप का पानी छान दिया, लेकिन अचानक उसे कुछ याद आ गया और एक कप वापस केतली में उलट दिया। दो कप चाय बनाकर दोनों के सामने रख दी। निगम सीधा हो गया। दोनों प्लेटों में कर-करके पीने लगे। बिस्सो बाबू खड़ा बीड़ी पीता रहा।

क्या चूहे-बिल्ली का-सा खेल है, ज़रा चूके तो गए। कोड़ा जमालशाही खेल में पकड़ लिये गए तो हार गए, नहीं तो दाँव चल ही रहा है—आखिरी दम तक। हँसी भी आती है और झुँझलाहट भी। तभी एक कल्पना बिस्सो बाबू के मन में स्वतः साकार हो उठी। सरकस में शेर-चीतों के साथ खेलने वाले की स्थिति में वह रह रहा है। कितना खतरनाक खेल होता है वह! उन खौफ़नाक जानवरों का ज़रा भी ऐसा-वैसा रुख देखा कि शाँय से हंटर फुफकारा—घात लग गई तो 'लैग-गार्ड्स' पर दाँत मार दिए, वरना पालतू कुत्तों की तरह घूमते

रहे। ये सब क्या है, कौन हैं, जिनके बीच में वह रहता है—वह ज़रा-सा चूक जाय तो बोटी-बोटी नोच ले जायँ, नहीं तो अपनी कोई हरकत पकड़े जाने का गम नही, शरम नही—फिर लगेगा दाँव! एक तो कर गया चोट! और बिस्सो बाबू इनमें से किसे नहीं जानता? निगम को नही जानता? जसवन्त को नहीं जानता? कक्कड़ को नहीं जानता? और हर समय होने वाला द्वन्द्व उसके मन में फिर जाग उठा, इन सबको एक ही बार मना कर दे, उसकी दूकान बदनाम होती है। उसे याद आया, उसके दोस्त मिस्त्री ने कहा था, 'ऐसे लोगों को तुमने नहीं रोका बिस्सो, तो देख लेना कोई भला आदमी फटकेगा नही।' इनमें से हर आदमी कब वारण्टी हो जायगा, कोई नहीं जानता। किसी ने भी उसका नाम झूठे को ही ले लिया तो पुलिस वाले नाक मे दम कर मारेंगे। उन्हें तो बस बहाना चाहिए। लेकिन फिर उसकी दूकान चले कैसे? ग्राहक कौन हो? यही तो दो-चार लोग है, कुछ-न-कुछ तो चुक ही देते है।

"अच्छा बिस्सो बाबू, माफ़ करना आज की ग़लती को।" निगम ने दाँत निपोरकर कहा और दोनो सिर झुकाए पिटे-से बाहर निकल गए।

बिस्सो बाबू हिसाब लिखने लगा।

"बिस्सो बाबू, मेरे पैसों का क्या हुआ?" एकदम आते ही किशोरी ने पूछा।

"पैसे रखे हैं अब।" बिस्सो ने कुटिलता से उसकी ओर देखकर कहा—"दोनों खा-पी गए अब बेटा, ठंडक में सोओ जाकर।"

किशोरी का उतरा हुआ चेहरा और मुरझा गया। सिर झुका लिया, "बिस्सो बाबू, मैं मर जाऊँगा। मैंने चादरे के लिए इसलिए दे दिये थे कि रात को ओढ़-बिछा लूँगा उसे—दिन में बदन पर लपेट लिया, सारे कपड़ों का काम देगा।" आगे उसका स्वर घुट गया।

"ले, पहले तो दे मरा, अब रोता क्यों है? ख़बरदार जो अब

बिना पूछे किसी को कुछ दिया।" बिस्सो बाबू स्वेटर के नीचे हाथ डालकर जेब से पैसे निकालने लगा। दोनों की बातों का ध्यान कर उसके चेहरे पर मुस्कान आ गई।

"सब, पूरे ?" उमंग कर एकदम किशोरी ने पूछा, उसकी आँखें जैसे चमक उठीं—"बिस्सो बाबू, तुमने मुझे बचा लिया।"

बिस्सो का जेब से पैसे निकालता हुआ हाथ वहीं रुक गया। उसने एक क्षण किशोरी की उसके प्रति कृतज्ञता और विश्वास से चमकती हुई आँखों में देखा, उत्सुक मुख-मुद्रा को देखा, और उसके मुँह से निकल गया—"हाँ, सब। लेकिन बताए देता हूँ, आज से फिर किसी के चक्कर में नहीं पड़ूँगा!" बिस्सो उस घटना का खूब रस लेकर नाटकीय वर्णन सुनाने जा रहा था, लेकिन अब चुप हो गया। अपने पैसों में से मिलाकर उसने पूरे दस रुपये किशोरी के हाथ पर रख दिए—आज दोपहर की कमाई सहित। उसकी जेब में अब दो पैसे शेष थे, लेकिन चेहरे पर बड़प्पन था। उसने कहा, "बड़ी देर लगा ली, ज़रा देर पहले आता तो बड़ा मज़ेदार तमाशा दिखाता।"

बड़ी उत्सुकता और प्रसन्नता से किशोरी ने पैसे गिनकर जेब में रख लिए, फिर जैसे उससे सहानुभूति दिखाते हुए बोला—"बिस्सो बाबू, भाभी से तुम लड़ आए हो, क्यों? पहले दूध लेती ही नहीं थी, बड़ी मुश्किल से लिया, रो पड़ी। वहीं तो लग गई इतनी देर।"

दो घाघों से रुपये निकलवा लेने की सारी प्रसन्नता और किशोरी को बचाकर सहायता करने का सारा बड़प्पन जैसे एक ही झटके से उड़ गया। बिस्सो बाबू एकदम सुस्त हो गया—अन्ना के प्रति आज का व्यवहार! ज़रूर घर में वह भूखी बैठी होगी, और यहाँ जान-बूझकर उसने भी तो चाय की एक बूँद गले से नीचे नहीं जाने दी है। वह बेचारी कह क्या रही थी—यही तो कह रही थी सिर्फ कि इस ढाई आने से अमल के लिए दूध आएगा! उसने समझाना चाहा था कि अगर इन पैसों का अमल के लिए दूध आ गया तो आज का दूकान का काम कैसे

चलेगा ? सुबह ही जो दो-चार ग्राहक आते है, देर हो गई तो लौट जायँगे। इसलिए अच्छा हो कि वह उसे जाने दे, और पैसे आते ही अभी वह दो मिनट में दूध भेजता है। पर अन्ना को जैसे ज़िद आ गई थी कि नही, दूकान चाहे चले, या न चले, इसका तो अमल को दूध ही आएगा। काफ़ी देर वाद-विवाद हुआ और आखिर दूकान को देर हो जाने की झुँझलाहट से वह उसे ज़ोर से धकेलकर दूकान की ओर चला आया था। और अब दिन-भर की कमाई किशोरी को पकड़ा दी !

कातर करुणा का एक फ़व्वारा-सा जैसे उसके भीतर फूट पड़ने को मचल पड़ा। एक धुन्ध और धुआँ। सोभा जो कुछ ले गया है, उसका नुकसान फिर उसकी आँखों के आगे कभी न पूरी की जा सकने वाली कमी की तरह लगा। उसे लगा—इन मुसीबतों और उलझनों से वह पार नहीं पा सकेगा, नहीं पा सकेगा, और एक दिन यों ही अन-जान-सा साँस तोड़ देगा।

बिना किशोरी की बात का जवाब दिये वह शो केस इत्यादि बाहर से उठा-उठाकर भीतर रखने लगा। बिना बोले ही किशोरी ने भी सहायता कराई। सब सामान उलटा-सीधा रखकर दो लोटे पानी अँगीठी में डाला। जल्दी से दूकान के तख्ते लगाए और किशोरी को वही छोड़कर चल दिया—निर्लक्ष्य…दिग्भ्रान्त-सा…निरुद्देश्य…

दो बुकें

दो बुर्क़े

लम्बा सफ़र, थर्ड क्लास का डिब्बा। सुबह आठ बजे से गाड़ी चली आ रही थी, और अब रात के दस बज रहे थे। प्रत्येक स्टेशन पर वही निश्चित आवाज़ें, उतरना-चढ़ना। 'कहिए कहाँ से आ रहे है?' 'भाई साहब, ज़रा सरकना उधर।' 'ऐ पूरी वाले, ज़रा इधर सुनना।' मन बुरी तरह ऊब गया था, और अब प्रबल इच्छा हो रही थी कि कुछ परिवर्तन हो, कुछ नया आए। दिन-भर ऊपर की सीट पर जाकर सोया, भीतर झाँका, बाहर झाँका। सबके चेहरे देखे। कोई नई बात नहीं। इच्छा हुई, काश एकाध लड़की—स्त्री ही चढ आती तो शायद इस एकरसता में कुछ परिवर्तन होता! पर डिब्बा लम्बा था और वह सबसे गहरे में बैठा था। वहाँ तक कोई आ नहीं पाता था। हरेक स्टेशन पर उधर ही दरवाज़े की तरफ कोई उतरता। मन बुरी तरह व्याकुल हो रहा था और वह थक गया था।

भोपाल स्टेशन आया।

तभी वह चौंककर ज़रा सँभला। दो रेशमी बुर्के वाली स्त्रियाँ उसकी सीट की ओर बढ़ी चली आ रही थीं। बुर्के बढ़िया काले साटन के थे और ऊपर के पंखों की हवा और बिजली की रोशनी में झलमला रहे थे, जैसे चाँदनी रात में जमुना का पानी। एकदम मुँह की ओर देखा आगे वाली स्त्री ने। बुर्के के सामने वाला परदा उलटकर सिर पर डाल दिया था। ओफ़, कैसा चाँद-सा अँधेरे की परतों में चमचमा रहा था—कह नहीं सकता! उसे लगा कि वह युग-युग तक इसे यों ही देखता रहेगा। शायद उससे सुन्दर चेहरा उसने ज़िन्दगी में कभी भी नहीं देखा। लम्बी-लम्बी पलके, सुती-सुथरी नाक, गुलाब की कली से ओंठ। हूर और अप्सराओं की कल्पना जैसे उसके सामने साकार हो उठी थी। वह बौखलाया हुआ-सा आँख और मुँह खोले उसे देखता रहा। एक क्षण को ऐसा लगा जैसे न जाने किस युग से और किस निर्जल रेगिस्तान में वह थका-प्यासा भटकता रहा है। और आज वह साक्षात् नखलिस्तान-सी उसकी दृष्टियों को विराम देने आ गई है। वह उसका स्वर सुनने को तरस उठा। दूसरा बुर्का अभी नहीं उठा था। बुर्के वाली के गोरे और मक्खन-जैसे हाथ बाहर दिखाई दे रहे थे। सोचा कहीं यह स्वप्न तो नहीं है, जहाँ उसकी कविता साकार हो उठी है। बड़ी प्रबल इच्छा हुई कि वे उसके सामने बैठ जायँ और वह अपलक देखता रहे। आनन्द के उच्छ्वास से उसका हृदय पुलकित हो उठा। वह कल्पना करने लगा कि दूसरी कितनी सुन्दर होगी, क्योंकि उसका बुर्का अधिक कीमती और सुन्दर था। आगे वाली की अपेक्षा वह अधिक सुन्दर है, ऐसी कल्पना विश्वास का रूप धारण करके उसके हृदय में जमी जा रही थी। एक बार फिर उस खुले उन्मुक्त मुँह को देखा, वहाँ एक विचित्र हृदयस्पर्शी करुणा की छाप थी। लगा जैसे उसके हृदय की करुणा उसके मुँह पर अभिव्यक्त हो आई है। अचानक फिर निगाह पीछे वाले बुर्क़ापोश पर चली गई। आह! वह न जाने

कितनी सुन्दर रही होगी ! उसका बुर्का अगली वाली की अपेक्षा अधिक कीमती था, उसके हाथ इसकी अपेक्षा अधिक सुडौल, सुन्दर और आकर्षक थे, उसका आकार अधिक सानुपातिक था। निश्चय ही वह उससे अधिक सुन्दरी है। लेकिन कम्बख्त ने अपने मुँह पर परदा डाल रखा है। बड़ी प्रबल इच्छा हुई, अत्यन्त कोमल हाथों से वह उसका नक़ाब उठाकर पीछे डाल दे।

रास्ता अपने-आप निकलता आया। वे उसकी सीट के सामने आकर खड़ी हो गई—आगे-पीछे। बिलकुल ऐसा लगा जैसे रेल का इंजन अपनी सर्च लाइट चमचमाता सामने आ खड़ा हुआ है, जिसकी ओर देखते हुए आँखें चौंधिया जाती है। पीछे कुली था।

"आप बडे बदतमीज मालूम पड़ते हैं। दो घण्टे से लेडीज खड़ी है और आप है मस्त टाँगे फैलाए पड़े है।" वह बुरी तरह चौंक उठा, क्योंकि इस आवाज़ और शक्ल के प्रभाव में जरा भी तुलना नहीं। लेकिन इतनी तीखी कि कलेजे को चीरती चली जाय। और जब तक उसकी आवाज़ के इस अप्रत्याशित प्रहार से वह सँभले, धमाके से उन्होंने उसके बगल में कुली से अपना ढाई मन का बिस्तरा रखवा दिया। दो पुटलियाँ, दो झोले, पानदान, बरतनों की बोरी, सुराही, और भी न जाने क्या-क्या।

इस वास्तविकता से उसकी सारी भावुकता और रोमांस उड़ गया। बरतनों की बोरी, पुटलियाँ, बिस्तर रखने से उसका बिस्तर कुचल ही नहीं गया था, बुरी तरह गन्दा भी हो गया था, क्योंकि बाहर पानी बरस रहा था। वह झल्ला उठा—"यह भी कोई हरकत है ! कुली को डाँटा—"दिखाई नही देता, सारा बिस्तर गन्दा कर दिया !"

"तो हम लोग अपने सिर पर रख लें ? जहाँ जगह होगी वहीं तो सामान रखा जायगा।" वह गुर्राई और अपना सामान गिनने लगी।

"इसका मतलब यह तो नहीं कि आप मेरे सिर पर रख दे।"

"आपका सिर अगर सारे डिब्बे में फैला होगा तो वह भी होगा,"

उसने निहायत बदतमीज़ी से उत्तर दिया। उत्तर सुनकर उसका चेहरा तमतमा आया, ऐसा गुस्सा आया कि खींचकर एक तमाचा दे गाल पर कि होश ठिकाने आ जायें। बड़ी आई सिर की बच्ची ! दाँत पीसकर चुप रह गया—कोने में सिमटा हुआ-सा।

कुली पैसों की राह में खड़ा था। वे बार-बार खिड़की से बाहर झाँककर देख लेतीं, बड़बड़ा उठतीं कि बाबूजी नहीं आये। काफी देर पश्चात् जब कुली से नहीं रहा गया तो उसने कह दिया—"बाबूजी आते रहेंगे, मुझे तो पैसे दे दीजिए। और कुछ काम देखूँगा।" उसने आगे हाथ फैला दिया। उस स्त्री ने उसे ऐसे देखा जैसे आँखों से ही पीस देगी। फिर बड़े अहसान से बुर्के के भीतर से एक दुअन्नी निकालकर उसके हाथ पर रख दी।

कुली तमतमा गया, लौटाते हुए बोला—"अच्छा हो बीबीजी, इस दुअन्नी को भी आप ही रख लीजिए—इतना सामान···।"

"इतना सामान है तो तेरे नाम अपनी जायदाद कर दे ?" उसने चीखकर कहा।

"ऐसी ही बात थी तो पहले ही तय कर लेतीं, बीबीजी !"

"औरतों से यह ज़बानदराज़ी करते तुझे शरम नहीं आ रही ! मक्कार, मरदूद !" उसकी पतली भौंहें तलवार की तरह लपक उठीं—"लेने हों तो ले जा, नहीं तो चला जा।" और उधर से बिलकुल उपेक्षा का भाव दिखाकर उस बिस्तरे पर बैठ गई। सामान ऊँचा था, जहाँ से उसकी कीचड़-सनी कामदार जूतियाँ उसके नये बिस्तरबन्द तक लटकती थीं। पास ही उसने दूसरी को भी बिठा लिया। सारा डिब्बा स्तब्ध उन्हें ही देख रहा था। आते ही कोहराम-सा उन्होंने मचा दिया था। उसकी उस भोली सुन्दरता और इस व्यवहार में तनिक भी समानता नहीं थी।

बुरी तरह का मुँह बनाकर बड़बड़ाता हुआ कुली चला गया। वह ऊपर बैठी निश्चिन्त भाव से पानदान खोलकर खटर-खटर पान लगाने

लगी। उनके उस बिस्तरे-सामान से नीचे का होलडोल, भीतर के तकिया-चादर सब भीग रहे होंगे और उनकी कीचड़ में सनी जूतियों से उसके कपड़े खराब होने का भी अन्देशा था।

वह हिम्मत करके उठ खड़ा हुआ और साहस बटोरकर बोला—"आप लोग नीचे उतर जाइए तो मैं अपना बिस्तरा समेट लूँ, बेकार गन्दा हो रहा है।"

"आप हमारे पीछे क्यों पड़े हैं ? तहज़ीब से बैठे रहिए। हम झगड़ा नहीं करना चाहती लेकिन तंग करेंगे, तो ठीक नहीं होगा।" उसने दृढता और उद्दण्डता से कहा, फिर पान बनाने लगी।

उसके काटो तो शरीर में लहू नहीं। दूसरे सभी आदमी इस कैंची-सी ज़बान वाली औरत को देख रहे थे। तभी उसने देखा, साथ वाली दूसरी औरत ने भी अपना बुर्क़ा पलट दिया था और उस खूबसूरत, आकर्षक, रहस्यमय, कीमती-चमकदार बुर्के के पीछे, जिसके जादू ने सारे डिब्बे को मोह लिया था, एक निहायत ही बदशक्ल, चुँधी आँखों, चेचक के दागों वाले मुँह की भद्दी औरत का चेहरा निकल आया था।

सुन्दर परदा हट गया था और यथार्थ सामने था।

गाड़ी दौड़ रही थी।

बेटी का बाप

बेटी का बाप

इस बार भी कवि भास्कर नहीं गये।

व्यंग्य से हँसकर उन्होंने बुलाने के लिए आये हुए व्यक्ति से कहा—"जाओ, कह देना अपने सेठ से, कवि भास्कर इतना सस्ता नहीं है!" उनका चेहरा आत्म-सम्मान के तेज़ से दीप्त हो उठा—वह देश का सबसे बड़ा क्रान्तिकारी कवि है, यह गर्व! यदि यह गर्व है तो उसे शोभा देता है।

नम्रता की प्रतिमूर्ति मैनेजर ने, जो ढीली लाँगवाली धोती और कोट पहने था, हाथ जोड़कर विनती की, "महाराज, ऐसा थोड़े ही है, जो कुछ बन पड़ेगा पत्र-पुष्प आपकी सेवा में अर्पित होगा ही। इस बार आपको अपनी चरण-रज से कुटिया पवित्र करनी है।"

कवि हँसे। यह सामंत-कालीन सम्बोधन—महाराज! पहले मन हुआ भगा दें, हमें सेठों और साहूकारों से क्या मतलब? जिसे कविता से

प्रेम होगा खुद आयेगा यहाँ । फिर भी उन्होंने तिरछे होंठों की हँसी से ज़रा परिहास से कह ही दिया—"जाओ, कह देना अपने सेठ से, एक बार के कष्ट करने के दस हज़ार रुपये लेता हूँ मैं, देगा वह ?" और अपने एक भक्त द्वारा भेंट दिया गया स्टेट-ऐक्सप्रेस का डिब्बा निकलाकर सिगरेट निकाली और बड़े आत्मतोष से पीने लगे । उनके होंठों पर मुस्कराहट तिरछी होकर फैल गई—हूँ, खाली व्यापारिक नम्रता से जीतना चाहता है ! कुछ खर्च भी नहीं और साहित्य-कला की सेवा भी हो जाय। हर जगह बचत देखता है—व्यवसायी है न !

और सचमुच इस बार सेठजी स्वयं आ गए । ढीला-ढाला, बहुत बढ़िया गैबरडीन का जयपुरिया कोट, कढ़ी हुई दुपल्ली टोपी, अँगूठियों में जगमगाते नगों वाले हाथ जोड़ते, झुके-झुके वे कार से निकले और अत्यन्त ही श्रद्धा से नमस्कार करके बोले, "महाराज, कुटिया पर तो आपके चरण पड़ने ही है । आप देश के रत्न है, हमारा जन्म सफल हो जायगा ।" वे बड़े झिझके-से खद्दर की चादर बिछे उस गद्दे के कोने पर बैठ गए, जहाँ मसनद लगाए कवि भास्कर दीवार से टिके बड़े अन्यमनस्क-से सिगरेट पी रहे थे । उन्होंने सुना, "यह तो हमारे नगर की परम्परा नहीं रही कि बाहर से इतना बड़ा कवि आये और यों चला जाय ! आपको वहाँ ठहरना चाहिये था...."

"यह भी तो सब सेठजी आपका ही है ।" कांग्रेसी कार्यकर्ता, कवि के आतिथेय मित्र ने कहा ।

"हाँ-हां, सो तो है ही ।" सेठजी जल्दी से बोले और अत्यन्त आशा से वे कवि की तरफ देखते रहे—"फिर महाराज, आज्ञा ?"

कवि भास्कर जैसे सपने से चौंके । अपने पहले परिहास को मुक्ति का बहाना मानकर, ज़रा गहरा रंग देते हुए उन्होंने आगे झुककर व्यस्तता से सिगरेट की राख को ऐश-ट्रे में झाड़ते हुए गम्भीरतापूर्वक कहा, "मैंने आपके मैनेजर साहब से कहा न !"

"उसकी आप क्यों चिन्ता करते हैं महाराज, ऐसा थोड़े ही है; जो

पत्रम्-पुष्पम् होगा सो तो करेंगे ही····" सेठजी के स्वर में दीनता थी, लेकिन उसके पीछे जो गर्व था वह शब्दों के अर्थ से ध्वनित होता था। कुछ सोचकर वे फिर बोले, "हम किस लायक है महाराज, जरा कला और साहित्य का सौख है, सो भरसक उसकी सेवा करते है, नहीं तो आप खुद जानो, यह कुछ सौदा-व्यापार की चीज तो है नहीं।" इस बार उनके अंजली-बद्ध हाथो मे एक हरा चैक पान के पत्ते की तरह फैला हुआ था···

कवि ने देखा और चौककर जोर से सिगरेट का कश खीचा, फिर ढेर-सा धुआँ उगल दिया। उनके और सेठजी के बीच में क्षण-भर के लिए धुएँ की एक दीवार खड़ी हो गई। उसके पार से उन्होंने विश्वास करने के लिए जैसे देखा—हाँ, वहाँ चार बिन्दियाँ ही दीख रही थी। ····तो सच ? उन्हें अपनी आँखों पर विश्वास नही हुआ।

अब कवि ने जाना कि उनके सामने एक करोड़पति सेठ बैठा है। कवि भास्कर के दिमाग की चरखी जैसे एक साथ ज़ोर से भन्नाकर चल उठी।

"नही····नहीं, इसे रखिए सेठजी, वह सब तो परिहास की बात थी।" कवि ने निश्चय कर लिया कि वह सब नही लेगा—रंडियों की तरह अपने मुजरे का पैसा तय करना कितना हीन है ! यदि जाना होगा तो वैसे ही जायगा।

"नहीं····नहीं, महाराज, यह तो पत्र-पुष्प है। आप कुछ और मत सोचिए···" सेठजी कह रहे थे, लेकिन उनकी मुद्रा में विजय का विश्वास था।

एक हाथ से कवि लगातार धाँय-धाँय सिगरेट फूंक रहे थे और उत्तेजना से दूसरे हाथ से अपने पैर के अँगूठे और उँगली को चटखा रहे थे। इस बार उनकी इच्छा हुई कि झपटकर सेठ की अंजली मे नीचे से ज़ोर का हाथ मार दे कि चैक कटी पतंग की तरह हवा में डगमगाकर नीचे जा गिरे····उनका नाम हो जायगा····लोग वाह-वाह कर उठेंगे—कवि भास्कर सच्चा क्रान्तिकारी कवि है, उसने करोड़पति

सेठ के दस हज़ार पर लात मार दी····एक ऐतिहासिक घटना हो जायगी।

"आपका बडा नाम है। हमारी तो बहुत दिन से अभिलाषा थी कि आपके दर्शन करेंगे। वैसे तो महाराज, आप जानो यह बिज़नैस का चक्कर ही ऐसा है कि न दिन को चैन, न रात को नींद, पर फिर भी महाराज, ज़रा सौख है सो कभी-कभी चरन-धूल ले लेते है····।" उन्होंने चैक को चादर पर रख दिया।

ऊपर चलते पखे की हवा से चैक फडफडाकर औधा हो गया और एक ओर उड़ने के लिए मुड़ने लगा····कवि ने बड़ी तटस्थता से उसे देखा और हाथ बढ़ाकर पीतल की मछलीनुमा एश-ट्रे उस पर रख दी। उसके हर व्यवहार से ऐसा ही प्रकट होता था जैसे वह एक अत्यन्त ही तुच्छ कागज़ को उड़ने से दबा रहा हो। अब तक उनके मन में चैक को स्वीकार करने की बात नहीं थी।

उड़ते चैक की फड़फड़ाहट से उन्हे अचानक ऐसा लगा कि क्यों वे एक क्षण की भावुकता में बहकर लक्ष्मी को लौटा रहे है—मिलना तो दूर रहा, इतने रुपये की तो उन्हे कभी एक साथ कल्पना भी नहीं हुई। कौन जाने इतिहास में उन्हें कौन किस रूप मे याद करे! और याद करे भी या नहीं। ज़िन्दगी-भर क्रान्ति के गीत गाये, स्वतन्त्रता लाने में अपना हिस्सा अदा किया, जिस नाम पर दुनिया-भर के कष्ट और मुसीबतें सहीं—क्या मिला उन्हें उस सबके बदले में? प्रकाशकों ने किताबें बेचीं, कोर्स में लगवाईं; लड़कों और पाठकों ने क्रान्तिकारी कविताएँ पढ़ीं; एक एक शब्द का कवि की कल्पना में भी न आ सकने वाला अर्थ कर-करके पढ़ाने वालों ने अपना ज्ञान बघारा; नकलबाज़ों ने कुञ्जियाँ लिखीं, स्टेजों पर बड़े हाव-भाव से मुट्ठियाँ बाँध-बाँधकर, दाँत भींच-भीचकर साभिनय उनका पाठ किया गया—श्रोताओं ने अपनी नसों में चींटियाँ रेंगने की सुरसुराहट और खाल पर कदम्ब जैसे रोमांच अनुभव किये, पर फिर····! इम्तहान पास कर-करके विद्यार्थी

लोग जीवन में अच्छी-अच्छी जगहो पर जम गए, क्रान्तिकारी कवि को क्या मिला ? एक सारहीन सन्तोष, एक स्थगित किया हुआ काल्पनिक आशावादी विश्वास कि शायद कभी तो इन सत्ताधारियों को ध्यान आयेगा कि लोगों मे जोश भरने में उसका भी हाथ रहा है ···तब उसके जीवन में एक परिवर्तन आयेगा····अभी तक तो वह परिवर्तन आया नही····कौन जाने उसके जीवन में ही वह आयेगा भी या नही ···उसका एक और भी तो साथी कवि था···बड़े क्रान्ति के गीत गाता था, स्वतंत्रता के राग अलापता था, और जब उसने इस स्वतन्त्रता की शक्ल देखी तो पागल हो गया। और पच्चीस साल पुराना उसका यह क्लास-फैलो आतिथेय है, जो अवसरवादी किस्म का छोटा-मोटा कांग्रेसी रहा, और जिसके यहाँ बैठकर वह जीवन में दूसरी या तीसरी बार स्टेट-ऐक्स-प्रेस सिगरेट पी रहा है···झूठे यश के सन्तोष और भुलावे की कल्पना में उसकी लड़की बिना इलाज मर गई।

"तो फिर थोड़ा कष्ट कीजिये महाराज, बाहर गाडी खड़ी है।" सेठजी की वाणी उन्हे कहीं दूर से सुनाई दी···

कवि भास्कर के मन में फिर एक बार आया कि दुहरा दें—'संतन कहा सीकरी सो काम···' वे मुख पर शान्त निर्विकार तटस्थता को प्रयास-पूर्वक स्थिर रखे हुए सिगरेट तो पिये जा रहे थे, लेकिन उन्हें लग ऐसा रहा था जैसे सामने बैठा सेठ उनका आतिथेय मित्र, कन्धे उचकाता मैनेजर, पंखे की हवा से हिलते परदे—सबको वे बौछार खाते खिड़की के शीशे के पार से देख रहे हो····सब धुँधला-धुँधला। उनके मन में एक तर्क आया, अगर मैं उससे एकदम मना कर दूँ तो क्या होगा ?···शायद यह चला जायगा—मुझे मन-ही-मन घमण्डी समझता हुआ, गालियाँ देता। इस व्यापारिक कीचड के बीच में भी जो कला और साहित्य के प्रति इसके हृदय में प्रेम है, हो सकता है उसे भी यह क्रोध की प्रतिक्रिया में कुचल दे। शायद कोई उसके लिए इसके पीछे डडा लेकर नही पड़ा कि वह कला और साहित्य को ही अपना शौक बनाए। इधर से निराश

होकर हो सकता है, अपना शौक वह इधर-उधर की चीजों पर केन्द्रित कर दे। क्या इस सबका कारण कवि भास्कर नही होंगे ? अपना नुकसान करके, जो यह उनके बीस नखरे बरदाश्त करके उन्हे ले जा रहा है, उसके बदले में क्या भौतिक लाभ इसे होगा ? सिवा इसके कि एक सन्तोष हो, थोड़ा-सा गर्व हो और यश मिले कि देश का सबसे बड़ा क्रान्तिकारी कवि··· सेठ का अतिथि। लेकिन इस यश और आत्म-संतोष से क्या लाभ ?····क्या कवि भास्कर इस तरह के यश और आत्म-संतोष को पिछले पच्चीस वर्ष से निरन्तर नही प्राप्त कर रहा ? उससे अधिक अच्छी तरह इस बात को और कौन जानेगा कि इस सबका सचमुच कोई अर्थ नही होता, कि इससे खोखली चीज़ कोई दूसरी नही है। अच्छा है, इस झूठे सुख-संतोष को अब यही प्राप्त करे, मुझे कुछ और चाहिए।

"महाराज हम लोगों ने गोष्ठी का समय तय कर दिया है, देर हो रही है, कुछ जल्दी हो जाती तो अच्छा था।" सेठ के हर अग-चालन में एक ऐसा गर्व था जैसे वह हर क्षण अनुभव कर रहा हो कि गुणियो और पण्डितों के सामने हमारी नम्रता और चिरौरी ही शोभा देती है। सेठ के बाप के बाप का भी यही रवैया था—हम लोगों ने हमेशा पंडितो और गुणियों का आदर किया है, गुण को परखा और बढ़ावा दिया है। उसी महान् परम्परा के उज्ज्वज रत्न अपने-आपको वे समझ रहे थे।

क्या महाराज-महाराज करता है ! कवि भास्कर मन-ही-मन झुझलाए। दिल में आया कि झिड़क दे। भीतर-ही-भीतर वे जाने को तैयार हो गए थे, लेकिन एक हिचकिचाहट थी—प्रसिद्ध क्रान्तिकारी कवि कहाँ पहुँचा ! लेकिन उन्होंने समझाया, वे सब बेकार की बातें हैं। जब हमें अपनी आवाज़, अपना सन्देश घर-घर पहुँचाना है तो यही वर्ग हमारे ज़रा-से दम्भ मे क्यो बच जाय ? मेरी क्रान्तिकारी कविता हर एक के दिल को झकझोर सकती है तो क्या इनके दिलों को छुएगी भी नही ? कोई-कोई क्षण ऐसा होता है जब एक ज़रा-सी बात आदमी के दिल

सामने एक पाँच-मंज़िला बहुत खूबसूरत नई बिल्डिंग खड़ी थी। उस पर रंग-बिरंगे बल्ब सजाये गए थे और नीचे उसका द्वार चमकदार कपड़ों के वितानो से सजा था। मण्डप बड़े कलापूर्ण ढग से बनाया गया था। बहुत ही खूबसूरती के साथ 'स्वागतम्' लिखे हुए काँच के केस मे लाउड-स्पीकर बज रहा था। सामने बीसियों कारें खड़ी थी—चहल-पहल, स्वागत-सत्कार और सुगन्धियुक्त फूलों की बौछार थी। लाउडस्पीकर से अत्यन्त अश्लील किस्म का कोई गीत चल रहा था। जिन लोगों ने वह सिनेमा देखा था, वे उसकी स्थिति को कल्पना में लाकर मुस्करा रहे थे। उनके दोस्त ने बताया कि जिस आदमी ने यह सिनेमा बनाया है उसने गांधी-फण्ड में कितना रुपया दिया है; और इससे गन्दे दूसरे सिनेमा को बनाने से पहले विनोबा की भूदान यात्रा पर एक न्यूज़ रील बना डाली है। जब वह इस विशेष गीत के विषय में बताने लगे कि कितने आपत्ति-जनक ढंग से भाव-भगियो सहित यह गीत गाया गया है, तब दोनो हाथ छाती पर बाँधे कवि भास्कर अत्यन्त ही गम्भीरता से मुस्कराते चले जा रहे थे। कभी आवश्यक समझते तो कोई राय भी दे देते। लेकिन इस विषय में पूरी तरह सचेत थे कि वे शेष लोगो से कुछ भिन्न है—राह चलते हर आदमी की श्रद्धापूर्ण दृष्टियो के वे केन्द्र है। और जब कोई व्यक्ति उन्हें अपरिचित दृष्टियों से देखता गुज़र जाता तो वे अत्यन्त दया और सहानुभूति से सोचते—इस बेचारे को क्या पता, कितना महत्त्वपूर्ण आदमी चला रहा है!

अचानक अपना नाम लाउडस्पीकर पर सुनकर वे चौके। लाउड-स्पीकर कह रहा था—"अब आप देश के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी कवि भास्करजी से उनकी ओजस्विनी कविता सुनिये!"···और उस समय तो स्तब्ध होकर मुँह फाड़े रह गए जब उन्होने सुना····एक भारी, आत्म-विश्वास-भरी और जोशीली आवाज़ उन्ही की कविता दुहराने लगी—नही, वह भूल नहीं कर सकते, यह उन्ही की आवाज़ थी।

तब उन्होने एकदम ध्यान दिया, अरे यह तो उसी सेठ की बिल्डिंग

है। दोस्त इस समय बताते-बताते रुक गया था कि 'देखा, उस दिन तुम्हें बुलाया था''''आज अपने लडके के मुण्डन के नाम पर यह टीमटाम कर दी है और अर्थ-मन्त्री को निमन्त्रित कर लिया है—लाखों के ब्लैक और इनकम-टैक्स का गोलमाल है''''''

लेकिन भास्कर का तमतमाया चेहरा देखकर वह चुप हो गया। कवि भास्कर के शरीर में जैसे आग लग गई थी। उन्होंने कहा—"ज़रा चलना तो।"

द्वार पर ही सेठजी अपनी उसी वेशभूषा में, जुड़े हुए हाथों को माथे तक लगा-लगाकर अतिथियों का स्वागत कर रहे थे, कवि भास्कर को देखकर गद्गद हो उठे। बिना उनकी भगिमा पर ध्यान दिये, कृतज्ञता के आवेश में उनके दोनो हाथ पकडकर बोले, "अरे महाराज, आप कहाँ? हम तो समझे थे कि आप चले गये हैं। हमारे धन्यभाग्य जो आप स्वयं ही आ गए, आइए अपने बेटे को आशीर्वाद दे दीजिए''''"

लेकिन कवि भास्कर ने यह सब नही सुना। उनकी कविता का रिकार्ड खत्म हो गया था; लेकिन उसकी घिसिर-घिसिर उनके दिमाग में अभी चल रही थी। उन्होंने दाँत पीसकर कहा—"सेठजी, यह कविता इसलिए रिकार्ड कराई गई थी?"

सेठजी ने कवि का आवेश समझा और नम्रता में भी उपेक्षा से हाथों को विवशता की मुद्रा में फैलाकर हँसे—"अरे महाराज, सब चलता है, इसमे हर्ज़ की बात ही क्या है?''''आखिर आपकी कविता तो सभी को सुनाने का अधिकार है ''।"

कवि को लगा कि एकदम धरती घूम गई है, एक क्षण को वे निरुत्तर हो गए। अब लाउडस्पीकर पर फिर एक भद्दा फिल्मी गीत आ रहा था। कवि की नस-नस खौल उठी। उन्होंने गरजकर कहा—"सेठ जी, ठीक है, मेरी कविता सुनने का अधिकार सभी को है; लेकिन कविता मेरी है, आवाज़ मेरी है, मै जानता हूँ कि किस अवसर पर वह सबको सुनानी है और कब नही। आप इस तरह हरगिज-हरगिज़ इसे

बाज़ारू गीतों के साथ नहीं बजवा सकते....''

सेठजी ने बहुत शान्त, अप्रभावित और दबी विजय के स्वर में उत्तर दिया—"इतने तेज़ क्यों होते हैं ? थोड़ा शान्त होइए महाराज ! यह कविता और आवाज़ अब आपकी रही कहाँ ? इसे तो हमने दस हज़ार रुपये देकर खरीदा है, राजी-राजी; बेटी तो महाराज, तभी तक बाप की है जब तक उसके घर रहे । फिर तो ज़िम्मेदारी सारी ससुराल पर आ जाती है...।"

कवि का चेहरा एकदम फक् पड़ गया, जैसे लकवा मार गया हो । उनके जोर से भिंचे हुए दाँत ढीले पड़ गए और मुट्ठियाँ खुल गईं । डूबते हुए उन्होंने सुना—"यहाँ क्यों खड़े हैं, भीतर चलकर विराजिए न महाराज, ठण्डा जल-वल पीजिए...।"

और सेठजी के इशारे पर फिर कवि भास्कर का रिकार्ड चढ़ा दिया गया था....

क्या यह आवाज़ कवि भास्कर की ही है...?

बेटी का बाप
उर्फ़
जहाँ लक्ष्मी कैद है

जहाँ लक्ष्मी क़ैद है

ज़रा ठहरिए, यह कहानी विष्णु की पत्नी लक्ष्मी के बारे में नहीं, लक्ष्मी नाम की एक ऐसी लड़की के बारे में है जो अपनी क़ैद से छूटना चाहती है। इन दो नामों में ऐसा भ्रम होना स्वाभाविक है जैसा कि कुछ क्षण के लिए गोविन्द को हो गया था।

एकदम घबराकर जब गोविन्द की आँखें खुलीं तो वह पसीने से तर था और उसका दिल इतने ज़ोर से धड़क रहा था कि उसे लगा कहीं अचानक उसका धड़कना बन्द न हो जाय। अँधेरे मे उसने पाँच-छः बार पलकें झपकी, पहली बार तो उसकी समझ में ही न आया कि वह कहाँ है, कैसा है—एकदम दिशा और स्थान का ज्ञान उसे भूल गया। जब पास के हाल की घड़ी ने एक का घण्टा बजाया तो उसकी समझ में ही न आया कि वह घड़ी कहाँ है, वह स्वयं कहाँ है और घण्टा कहाँ बज रहा है। फिर धीरे-धीरे उसे ध्यान आया, उसने ज़ोर से अपने गले

का पसीना पोंछा और उसे लगा, उसके दिमाग़ में फिर वही खट्-खट् गूँज उठी है, जो अभी गूँज रही थी ··

पता नहीं, सपने में या सचमुच ही, अचानक गोविन्द को ऐसा लगा था जैसे किसी ने किवाड़ पर तीन-चार बार खट्-खट् की हो, और बड़े गिड़गिड़ाकर कहा हो—'मुझे निकालो, मुझे निकालो !' और वह आवाज़ कुछ ऐसे रहस्यमय ढंग से आकर उसकी चेतना को कोंचने लगी कि वह बौखलाकर जाग उठा—सचमुच ही यह किसी की आवाज थी या महज़ उसका भ्रम ?

फिर उसे धीरे-धीरे याद आया कि यह भ्रम ही था और वह लक्ष्मी के बारे में सोचता हुआ ऐसा अभिभूत सोया था कि वह स्वप्न में भी छाई रही। लेकिन वास्तव में यह आवाज़ कैसी विचित्र थी, कैसी साफ थी ! उसने कई बार सुना था कि अमुक स्त्री या पुरुष से स्वप्न में आकर कोई कहता था कि 'मुझे निकालो, मुझे निकालो।' फिर वह धीरे-धीरे स्थान की बात भी बताने लगता था, और वहाँ खुदवाने पर कड़ाहे या हाँडी में भरे सोने-चाँदी के सिक्के या माया उसे मिली और वह देखते-देखते मालामाल हो गया। कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि किसी अनधिकारी आदमी ने उस द्रव्य को निकलवाना चाहा तो उसमें कौड़ियाँ और कोयले निकले। या फिर उसके कोढ़ फूट आया, या घर में कोई मृत्यु हो गई। कहीं इसी तरह, धरती के नीचे से उसे कोई लक्ष्मी तो नहीं पुकार रही है ? और वह बड़ी देर तक सोचता रहा, उसके दिमाग़ में फिर लक्ष्मी का किस्सा साकार होने लगा। वह मोहाछन्न-सा पड़ा रहा····

दूर कहीं दूसरे घड़ियाल ने फिर वही एक घण्टा बजाया।

गोविन्द से अब नहीं रहा गया। रज़ाई को चारों तरफ से बन्द रखे हुए ही बड़े सँभलकर उसने कुहनी तक हाथ निकाला, लेटे-ही-लेटे अलमारी के खाने से किताब-कापियों की बगल से उसने अधजली मोमबत्ती निकाली, वहीं कही से खोजकर दियासलाई निकाली और

आधा उठकर, ताकि जाड़े मे दूसरा हाथ पूरा न निकालना पड़े, उसने दो-तीन बार घिसकर दियासलाई जलाई, मोमबत्ती रोशन की और पिघले मोम की बूंद टपकाकर उसे दवात के ढक्कन के ऊपर जमा दिया। धीरे-धीरे हिलती रोशनी में उसने देख लिया कि पूरे किवाड़ बन्द हैं, और दरवाज़े के सामने वाली दीवार में बने, जाली लगे रोशनदान के ऊपर, दूसरी मंजिल से हल्की-हल्की जो रोशनी आती है, वह भी बुझ चुकी है। सब-कुछ कितना शान्त हो चुका है! बिजली का स्विच यद्यपि उसके तख़्त के ऊपर ही लगा था, लेकिन एक तो जाड़े में रजाई समेत या रज़ाई छोड़कर खड़े होने का आलस्य, दूसरे लाला रूपाराम का डर, सुबह ही कहेगा—'गोविन्द बाबू, बड़ी देर तक पढाई हो रही है आजकल।' जिसका सीधा अर्थ होगा कि बड़ी बिजली ख़र्च करते हो।

फिर उसने चुपके से, जैसे कोई उसे देख रहा हो, तकिये के नीचे से रजाई के भीतर-ही-भीतर हाथ बढ़ाकर वह पत्रिका निकाल ली और गरदन के पास से हाथ निकालकर उसके सैंतालीसवें पन्ने को बीसवीं बार खोलकर बड़ी देर घूरता रहा। एक बजे की पठानकोट एक्सप्रेस जब दहाड़ती हुई गुज़र गई तो सहसा उसे होश आया। ४७ और ४८, जो पन्ने उसके सामने खुले थे, उनमें जगह-जगह नीली स्याही से कुछ पंक्तियों के नीचे लाइनें खींची गई थीं। यही नहीं, उस पन्ने का कोना मोड़कर उन्हीं लाइनों की तरफ़ विशेष रूप से ध्यान खींचा गया था। अब तक गोविन्द उन या उनके आस-पास की लाइनों को बीस बार से अधिक घूर चुका था। उसने शंकित निगाहों से इधर-उधर देखा और फिर एक बार उन पंक्तियों को पढ़ा।

जितनी बार वह उन्हें पढता, उसका दिल एक अनजान आनन्द के बोझ से धड़ककर डूबने लगता और दिमाग़ उसी तरह भन्ना उठता जैसा उस समय भन्नाया था, जब यह पत्रिका उसे मिली थी। यद्यपि इस बीच उसकी मानसिक दशा कई विकट स्थितियों से गुज़र चुकी थी; फिर

भी वह बड़ी देर तक काली स्याही से छपे कहानी के अक्षरों को स्थिर निगाहों से घूरता रहा। धीरे-धीरे उसे ऐसा लगा, अक्षरों की यह पंक्ति एक ऐसी खिड़की की जाली है, जिसके पीछे बिखरे बालों वाली एक निरीह लड़की का चेहरा झाँक रहा है। और फिर उसके दिमाग़ में बचपन में सुनी कहानी साकार होने लगी—शिकार खेलने में साथियों का साथ छूट जाने पर भटकता हुआ एक राजकुमार अपने थके-माँदे घोड़े पर बिलकुल वीराने में, समुद्र के किनारे बने एक विशाल सुनसान किले के नीचे जा पहुँचा। वहाँ ऊपर खिड़की मे उसे एक अत्यन्त सुन्दर राजकुमारी बैठी दिखाई दी, जिसे एक राक्षस ने लाकर वहाँ कैद कर दिया था····छोटे-से-छोटे विवरण के साथ खिड़की में बैठी राजकुमारी की तस्वीर गोविन्द की आँखों के आगे स्पष्ट और मूर्त होती गई। और उसे लगा, जैसे वही राजकुमारी उन रेखांकित, छपी लाइनों के पीछे से झाँक रही है, उसके गालों पर आँसुओं की लकीरें सूख गई हैं, उसके होंठ पपड़ा गए हैं···चेहरा मुरझा गया है और रेशमी बाल मकड़ी के जाले जैसे लगते हैं, जैसे उसके पूरे शरीर से एक आवाज़ निकलती हो—'मुझे छुडाओ, मुझे छुड़ाओ !'

गोविन्द के मन में उस अनजान राजकुमारी को छुड़ाने के लिए जैसे रह-रहकर कोई कुरेदने लगा। एक-आध बार तो उसकी बड़ी प्रबल इच्छा हुई कि अपने भीतर रह-रहकर कुछ करने की उत्तेजना को वह अपने तख्त और कोठरी की दीवार के बीच में बची दो फ़ीट चौड़ी गली में घूम-घूमकर दूर कर दे।

तो क्या सचमुच लक्ष्मी ने यह सब उसी के लिए लिखा है ? लेकिन उसने तो लक्ष्मी को देखा तक नही। अगर अपनी कल्पना में किसी जवान लड़की का चेहरा लाए भी तो, वह आख़िर कैसी हो ?···· कुछ और भी बातें थी कि वह लक्ष्मी के रूप में एक सुन्दर लड़की के चेहरे की कल्पना करते डरता था—उसकी ठीक शक्ल-सूरत और उम्र भी तो नहीं मालूम उसे···

गोविन्द यह अच्छी तरह जानता था कि यह सब उसी के लिए लिखा गया है। ये लाइनें खींचकर उसी का ध्यान आकृष्ट किया गया है, लेकिन फिर भी वह इस अप्रत्याशित बात पर विश्वास नहीं कर पाता था। वह अपने को इस लायक भी नही समझता था कि कोई लड़की इस तरह उसे संकेत करेगी। यों शहरों के बारे में उसने बहुत काफ़ी सुन रखा था, लेकिन यह सोचा भी नही था कि गाँव से इण्टर पास करके शहर आने के एक हफ़्ते में ही उसके सामने एक वैसी ही 'सौभाग्य-पूर्ण' बात आ जायगी···

वह जब-जब इन पंक्तियों को पढ़ता तब-तब उसका सिर इस तरह चकराने लगता जैसे किसी दस-मंजिले मकान से नीचे झाँक रहा हो। जब उसने पहले-पहल ये पंक्तियाँ देखी थीं तो इस तरह उछल पड़ा था जैसे हाथ में अंगारा आ गया हो।

बात यह हुई कि वह चक्की वाले हॉल में ईंटों के तख्त जैसे बने चबूतरे पर बड़ी पुरानी काठ की सन्दूकची के ऊपर लम्बा-पतला रजिस्टर खोले दिन-भर का हिसाब मिला रहा था, तभी लाला रूपाराम का सबसे छोटा नौ-दस साल का लड़का रामस्वरूप उसके पास आ खड़ा हुआ। यह लड़का फटे-पुराने-से एक चैस्टर की, जो साफ़ ही किसी बड़े भाई के चैस्टर को कटवाकर बनवाया गया होगा, जेबों में दोनों हाथों को ठूँस पास खड़ा होकर उसे देखने लगा।

गोविन्द जब पहले ही दिन आया था और हिसाब कर रहा था, तभी यह लडका भी आ खड़ा हुआ था। उस दिन लाला रूपाराम भी थे, इसलिए सिर्फ़ यह दिखाने को कि वह उनके सुपुत्र में भी काफी रुचि रखता है, उसने उससे नियमानुसार नाम, उम्र और स्कूल-क्लास इत्यादि पूछे थे। नाम रामस्वरूप, उम्र नौ साल, चुंगी प्राइमरी स्कूल में चौथे क्लास में पढता था। फिर तो सुबह-शाम गोविन्द उसे चैस्टर की छाया से ही जानने लगा। शक्ल देखने की जरूरत ही नहीं होती थी। चैस्टर के नीचे नेकर पहने होने के कारण उसकी पतली टाँगें खुली रहतीं और

वह पाँवों में बड़े पुराने किरमिच के जूते पहने रहता, जिनकी फटी-निकली जीभों को देखकर उसे हमेशा दुम-कटे कुत्ते की पूँछ का ध्यान हो आता था।

थोड़ा देर उसका लिखना ताकते रहकर लड़के ने चैस्टर के बटनों के कटाव और छाती के बीच में रखी पत्रिका निकालकर उसके सामने रख दी और बोला—"मुंशीजी, लक्ष्मी जीजी ने कहा है, हमे कुछ और पढ़ने को दीजिए।"

"अच्छा, कल देंगे....." मन-ही-मन भन्नाकर उसने कहा।

यहाँ आकर उसे जो 'मुशीजी' का नया ख़िताब मिला है, उसे सुनकर उसकी आत्मा ख़ाक हो जाती। 'मुंशी' नाम के साथ जो एक कान पर कलम लगाये, गोल-मैली टोपी, पुराना कोट पहने, मुड़े-तुड़े आदमी की तस्वीर सामने आती है, उसे बीस-बाईस साल का युवक गोविन्द सँभाल नहीं पाता।

लाला रूपाराम उसी के गाँव के है—शायद उसके पिता के साथ दो-तीन जमात पढ़े भी थे। शहर आते ही आत्म-निर्भर होकर पढ़ाई चला सकने के लिए किसी ट्यूशन इत्यादि या छोटे पार्ट-टाइम काम के लिए लाला रूपाराम से भी वह मिला, तो उन्होंने अत्यन्त उत्साह से उसके मृत बाप को याद करके कहा—"भैया, तुम तो अपने ही बच्चे हो, ज़रा हमारी चक्की का हिसाब-किताब घण्टे-आध घण्टे देख दिया करो और मज़े में चक्की के पास जो कोठरी है उसमें पड़े रहो, अपने पढ़ो। आटे की यहाँ तो कमी है ही नहीं।" और अत्यन्त कृतज्ञता से गद्गद जब वह उनकी कोठरी में आ गया तो पहली रात हिसाब लिखने का ढंग समझाते हुए लाला रूपाराम मोतियाबिन्द वाले चश्मे के मोटे-मोटे काँचों के पीछे से मोरपंखी के चँदोवे-सी दीखती आँखों और मोटे होंठों से मुस्कराते, उसका सम्मान बढ़ाने को 'मुंशीजी' कह बैठे तो वह चौंक गया। लेकिन उसने निश्चय कर लिया कि यहाँ जम जाने के बाद विनम्रता से इस शब्द का विरोध करेगा। रामस्वरूप से मुंशीजी नाम

सुनकर उसकी भौहें तन गईं, इसीलिए उसने उपेक्षा से वह उत्तर दिया था।

"कल ज़रूर दीजिएगा।" रामस्वरूप ने फिर अनुरोध किया।

"हाँ, भाई ज़रूर देंगे।" उसने दाँत पीसकर कहा, लेकिन चुप ही रहा। वह अक्सर लक्ष्मी का नाम सुनता था। हालाँकि उसकी कोठरी बिलकुल सड़क की तरफ़ अलग ही पडती थी; लेकिन उसमें पीछे की तरफ़ जो एक जालीदार छोटा-सा रोशनदान था, वह घर के भीतर नीचे की मंज़िल के चौक में खुलता था। लाला रूपाराम का परिवार ऊपर की मंज़िल पर रहता था और नीचे सामने की तरफ़ पनचक्की थी, पीछे कई तरह की चीज़ों का स्टोर-रूम था। इस 'लक्ष्मी' नाम के प्रति उसे उत्सुकता और रुचि इसलिए भी बहुत थी कि चाहे कोठरी में हो या बाहर पनचक्की के हॉल में, हर पाँचवें मिनट पर उसका नाम विभिन्न रूपों में सुनाई देता था—'लक्ष्मी बीबी ने यह कहा है', 'रुपये लक्ष्मी बीबी के पास है', 'चाबी लक्ष्मी बीबी को दे देना।' और उसके जवाब में जो एक पतली तीखी-सी अधिकारपूर्ण आवाज़ सुनाई देती थी, उसे गोविन्द पहचानने लगा था। अनुमान से उसने समझ लिया कि यही लक्ष्मी की आवाज़ है। लेकिन स्वयं वह कैसी है ? उसकी एक झलक-भर देख पाने को उसका दिल कभी-कभी बुरी तरह तडप-सा उठता। लेकिन पहले कुछ दिनों उसे अपना प्रभाव जमाना था, इसलिए वह आँख उठाकर भी भीतर देखने की कोशिश न करता। मन-ही-मन उसने समझ लिया कि यह लक्ष्मी है, काफ़ी महत्त्वपूर्ण ही····दिक्कत यह थी कि भीतर कुछ दिखाई भी तो नही देता था। सड़क के किनारे तीन-चार दरवाज़े वाले इस चक्की के हॉल के बाद एक आठ-दस फ़ीट लम्बी गली थी, तब फिर भीतर चौक था। पहली मज़िल काफ़ी ऊँची और मज़बूत थी और चौक के ऊपर लोहे का जाल पड़ा था, उस पर से ऊपर वाले लोग जब गुजरते थे तो लोहे की झनझनाहट से पहले तो उसका ध्यान हर बार उधर चला जाता था। कभी-कभी बच्चे तो और भी

उछल-उछलकर उस पर कूदने लगते थे। यहाँ से तो जब तक किसी बहाने पूरी गली न पार की जाय, कुछ भी दीखना असम्भव था। चूँकि गुसलखाना और नल इत्यादि उसी चौक मे थे, जिनकी वजह से नीचे प्रायः सीलन और गीलापन रहता था, इसलिए सुबह चौक में जाते हुए अत्यन्त सीधे लड़के की तरह निगाहें नीची किये हुए भी वह ऊपर की स्थिति को भाँपने का प्रयत्न करता था। ऊपर सिर उठाकर आँख-भर देख पाने की उसमे हिम्मत न थी। अपनी कोठरी का एकमात्र दरवाजा बन्द करके, तख्त पर चढकर मकड़ी के जाले और धूल से भरे जालीदार रोशनदान से झाँककर उसने वहाँ की स्थिति को भी जानने की कोशिश की थी; लेकिन यह कम्बख़्त जाली कुछ इस ढंग से बनी थी कि उसके 'फ़ोकस' में पूरा सामने वाला छज्जा और एकाध फुट लोहे का जाल-भर आता था। वहाँ कई बार उसे लगा जैसे दो छोटे-छोटे तलुए गुज़रे···बहुत कोशिश करने पर टखने दीखे—हाँ, है तो किसी लड़की के ही पैर, क्योकि साथ मे धोती का किनारा भी झलका था····उसने एक गहरी साँस ली और तख़्त से उतरते हुए बड़े ऐक्टराना अंदाज़ में छाती पर हाथ मारा और बुदबुदाया—"अरे लक्ष्मी ज़ालिम, एक झलक तो दिखा देती···"

"मुंशीजी, तुम तो देख रहे हो, लिखते क्यों नहीं ?" रामस्वरूप ने जब देखा कि गोविन्द धीरे-धीरे होल्डर का पिछला हिस्सा दाँतों में ठोंकता हुआ हिसाब की कॉपी में अपलक कुछ घूर रहा है तो पता नही कैसे यह बात उसकी समझ में आ गई कि वह जो कुछ सोच रहा है, उसका सम्बन्ध सामने रखे हिसाब से नही है····

उसने चौंककर लड़के की तरफ़ देखा···और चोरी पकड़ी जाने पर झेंपकर मुस्कराया, तभी अचानक एक बात उसके दिमाग़ में कौंधी—यह लक्ष्मी रामस्वरूप की बहन ही तो है। ज़रूर उसका चेहरा इससे काफी मिलता-जुलता होगा। इस बार उसने ध्यान से रामस्वरूप का चेहरा देखा कि वह सुन्दर है या नहीं। फिर अपनी बेवकूफ़ी पर मुस्कराकर

एक अँगड़ाई ली। चारों तरफ़ ढीले हुए कम्बल को फिर से चारों ओर से कस लिया और अप्रत्याशित प्यार से बोला—"अच्छा मुन्ना, कल सुबह दे देंगे।"···उसकी इच्छा हुई कि वह उससे लक्ष्मी के बारे में कुछ बात करे, लेकिन सामने ही चौकीदार और मिस्त्री सलीम काम कर रहे थे···

असल में आज वह थक भी गया था। अचानक व्यस्त होकर बोला था और जल्दी-जल्दी हिसाब करने लगा। दुनिया-भर की सिफ़ारिशों के बाद उसका नाम कॉलेज के नोटिस-बोर्ड पर आ गया कि वह ले लिये गए लड़कों में से है। आते समय कुछ किताबें और कापियाँ भी वह खरीद लाया था, सो आज वह चाहता था कि जल्दी-से-जल्दी अपनी कोठरी में लेटे और कुछ आगे-पीछे की बातें····दुनिया-भर की बातें सोचता हुआ सो जाय····सोचे, लक्ष्मी कौन है····कैसी है····वह उसके बारे में किसी से पूछे ?····कोई उसका हम-उम्र और विश्वास का आदमी भी तो नहीं है। किसी से पूछे और रूपाराम को पता चल जाय तो ? लेकिन अभी तीसरा ही तो दिन है···मन-ही-मन अपने पास रखी पत्रिकाओं और कहानी की पुस्तकों की गिनती करते हुए वह सोचने लगा कि इस बार उसे कौनसी देनी है···आगे जाकर जब काफ़ी दिन हो जायँगे तो वह चुपचाप उसमें एक ऐसा छोटा-सा पत्र रख देगा जो किसी दोस्त के नाम लिखा गया होगा या उसकी भाषा ऐसी होगी कि पकड़ में न आ सके···भूल से चला गया, पकड़े जाने पर वह आसानी से कह सकेगा—उसे तो ध्यान भी नहीं था कि वह परचा इसमें रखा है। बीस जवाब है। अपनी चालाक बेवकूफ़ी की कल्पना पर वह मुस्कराने लगा।

जिसके विषय में वह इतना सब सोचता है, यह उसी लक्ष्मी के पास से आई हुई पत्रिका है—उसने इसे अपने कोमल हाथों से छुआ होगा, तकिये के नीचे, सिरहाने भी यही होगी····लेटकर पढ़ते हुए, हो सकता है सोचते-सोचते छाती पर भी रखकर सो गई हो····और

उसका तन-मन गुदगुदा उठा। क्या लक्ष्मी उसके विषय मे बिलकुल ही न सोचती होगी ? हिसाब लिखने की व्यस्तता में भी उसने गरदन मोड़कर एक हाथ से पत्रिका के पन्ने पलटने शुरू कर दिए और एक कोना-मुड़े पन्ने पर अचानक उसका हाथ ठिठक गया—यह किसने मोड़ा है ? एक मिनट में हजारों बातें उसके दिमाग़ मे चक्कर लगा गई। उसने पत्रिका उठाकर हिसाब की कॉपी पर रख ली। मुड़ा पन्ना पूरा खुला था। छपे पन्ने पर जगह-जगह नीली स्याही से निशान देखकर वह चौंक पडा। ये किसने लगाए है ? उसे खूब अच्छी तरह ध्यान है, वह पहले नही थे···

'मैं तुम्हे प्राणों से अधिक प्यार करती हूँ····' उसने एक नीली लाइन के ऊपर पढ़ा····

"ऐं, यह क्या चक्कर है ··? वह एकदम जैसे बौखला उठा। उसने फौरन ही सामने बैठे मिस्त्री सलीम और दिलावरसिह को देखा, वे अपने में ही व्यस्त थे। उसकी निगाह अपने-आप दूसरी लाइन पर फिसल गई।

'मुझे यहाँ से भगा ले चलो·····'

"अरे····!"

तीसरी लाइन—'मैं फाँसी लगाकर मर जाऊँगी···'

और गोविन्द इतना घबरा गया कि उसने फट से पत्रिका बन्द कर दी। शंका से इधर-उधर देखा, किसी ने ताड़ तो नही लिया ? उसके माथे पर पसीना उभर आया और दिल चक्की के मोटर की तरह चलने लगा। पत्रिका के उन पन्नों के बीच में ही उँगली रखे हुए उसने उसे घुटने के नीचे छिपा लिया। कहीं दूर से ही रंग-बिरंगी कवर की तस्वीर देखकर यह कम्बख्त चौकीदार ही न माँग बैठे। उन पंक्तियों को एक बार फिर देखने की दुर्निवार इच्छा उसके मन मे हो रही थी, लेकिन जैसे हिम्मत न पड़ती थी। क्या सचमुच ये निशान लक्ष्मी ने ही लगाए है ? कही किसी ने मजाक तो नही किया ? लेकिन मजाक उससे कौन

करेगा, क्यों करेगा ? ऐसा उसका कोई परिचित भी तो नहीं है यहाँ, कि तीन दिन में ही ऐसी हिम्मत कर डाले।

उसने फिर पत्रिका निकालकर पूरी उलट-पलट डाली। नहीं, निशान वही हैं, बस। वह उन तीनों लाइनों को फिर एक साथ पढ गया और उसे ऐसा लगा जैसे उसके दिमाग में हवाई जहाज़ भन्ना उठा हो। गोविन्द का दिमाग़ चकरा रहा था, दिल धड़क रहा था और जो हिसाब वह लिख रहा था, वह तो जैसे एकदम भूल गया। उसने क़लम के पिछले हिस्से से कान के ऊपर खुजलाया, खूब आँखें गड़ाकर जमा और ख़र्च के खानों को देखने की कोशिश की, लेकिन बस नस-नस में सन्-मन् करती कोई चीज़ दौड़े जा रही थी। उसे लगा, उसका दिल फट जायगा और आतिशबाज़ी के अनार की तरह दिमाग़ फूट पड़ेगा ···अब वह किससे पूछे ' यह सब निशान किसने लगाए है ? क्या सचमुच लक्ष्मी ने ?

इस मधुर-सत्य पर विश्वास नहीं होता। मैं चाहे उसे न देख पाया होऊँ, उसने तो जरूर ही मुझे देख लिया होगा। अरे, ये लड़कियाँ बड़ी तेज होती हैं। गोविन्द की इच्छा हुई, अगर उसे इसी क्षण शीशा मिल जाय तो वह लक्ष्मी की आँखों से अपने को एक बार देखे—कैसा लगता है···

लेकिन यह लक्ष्मी कौन है ? विधवा, कुमारी, विवाहिता, परित्यक्ता, क्या ? कितनी बड़ी है ? कैसी है ? उसकी नस-नस में एक ऐसी प्रबल मरोड़-सी उठने लगी कि वह अभी उठे और दौड़कर भीतर के आँगन की सीढियों से धडाधड़ चढता हुआ ऊपर जा पहुँचे—लक्ष्मी जहाँ भी, जिस कमरे मे बैठी हो, उसके दोनों कंधे झकझोरकर पूछे, 'लक्ष्मी, लक्ष्मी, यह सब तुमने लिखा है ? तुम नहीं जानतीं लक्ष्मी, मैं कितना अभागा हूँ ! मैं क़तई इस सौभाग्य के लायक नहीं हूँ।' और सचमुच इस अप्रत्याशित सौभाग्य से गोविन्द का हृदय इस तरह पसीज उठा कि उसकी आँखों में आँसू आ गए। डोरी से लटकते हुए बल्ब को अपलक

देखता हुआ वह अपने अतीत और भविष्य की गहराइयों में उतरता चला गया; फिर उसने धीरे से अपनी कोरों में भरे आँसुओं को उँगली पर लेकर इस तरह झटक दिया जैसे देवता पर चन्दन चढ़ा रहा हो। उसका ढीला पड़ा हाथ अब भी पत्रिका के पन्ने को पकड़े था।

एक बार उसने फिर उन पंक्तियों को देखा—मान लो लक्ष्मी उसके साथ भाग जाय ? कहाँ जायँगे वे लोग ? कैसे रहेंगे ? उसकी पढ़ाई का क्या होगा ? बाद में पकड़ लिये गए तो ?

लेकिन आख़िर यह लक्ष्मी है कौन ?

लक्ष्मी के बारे में प्रश्नों का एक झुंड उसके दिमाग़ पर टूट पड़ा, जैसे शिकारी कुत्तों का बाड़ा खोल दिया गया हो, या एक के बाद एक सिर पर कोई हथौड़े की चोटें कर रहा हो, बड़ी निर्ममता और क्रूरता से। जैसे छत पर से अचानक गिर पड़ने वाले आदमी के सामने सारी दुनिया एक झटके के साथ एक क्षण में चक्कर लगा जाती है, उसी तरह उसके सामने सैकड़ों-हज़ारों चीज़ें एक साथ चमककर गायब हो गईं।

ईंटों के ऊँचे चौकोर तख़्तनुमा चबूतरे पर पुरानी छोटी-सी सन्दूक़ची के आगे बैठा गोविन्द हिसाब लिख रहा था और अभी हिसाब न मिलने के कारण कच्चे पुरज़े इधर-उधर बिखरे थे, वे सब यों ही बिखरे रहे। उसने खुले लेजर-रजिस्टर पर दोनों कुहनियाँ टिका दीं और दोनों हथेलियों से आँखें बन्द कर लीं....कनपटी के पास की नसें चटख रही थीं। ऐसा तो कभी देखा....सुना नहीं....सिनेमा, उपन्यासों में भी नहीं देखा-पढ़ा। सचमुच इन निशानों का क्या मतलब है ? क्या लक्ष्मी ने ही ये लाइनें खीची है ? हो सकता है किसी बच्चे ने ही खींच दी हों....इस सम्भावना से थोड़ा चौककर गोविन्द ने फिर पन्ना खोला—नहीं, बच्चा क्या सिर्फ़ उन्हीं लाइनों के नीचे निशान लगाता ? और लकीरें इतनी सधी और सीधी हैं कि किसी बच्चे की हो ही नही सकती। किसी ने उसे व्यर्थ परेशान करने को तो निशान

नहीं लगा दिए ? हो सकता है वह लक्ष्मी बहुत चुहलबाज़ हो और जरा छकाने को उसी ने सब किया हो··· ।

यद्यपि गोविन्द इस तरह आँखें बन्द किये सोच तो रहा था, लेकिन उसे मन-ही-मन डर था कि मिस्त्री और दरबान देखकर कुछ समझ न जायें। सबसे बड़ा डर उसे लाला रूपाराम का था। अभी रुई-भरी, सकलपारो वाली सिलाई की, मैली-सी पूरी बाँहों की मिरजई पहने और उस पर मैली चीकट, युगों पुरानी अण्डी लपेटे, धीरे-धीरे हाँफते हुए, बेंत टेकते, बड़े कष्ट से सीढ़ियाँ उतरकर वे आयेंगे···

अचानक बेंत की खट्-खट् से चौंककर उसने जो आँखों के आगे से हाथ हटाए तो देखा, सच ही लाला रूपाराम चले आ रहे हैं। अरे कम्बख़्त, याद करते ही आ पहुँचा—बैठे हुए देख तो नहीं लिया ? उसने झट पत्रिका को घुटने के नीचे और भी सरका लिया और सामने फैले पुरज़ों पर आँखें टिकाकर व्यस्त हो उठा। मिस्त्री और चौकीदार की खुसुर-पुसुर बन्द हो गई। गली-सी पार करके लाला रूपाराम ने प्रवेश किया।

मोटे-मोटे शीशों के पीछे से उनकी आँखें बड़ी होकर भयंकर दीखती थीं। आँखों और पलकों का रंग मिलकर ऐसा दिखाई देता था जैसे पीछे मोरपंख के चँदोवे लगे हों। सिर पर रुई-भरा ही कनटोपा था। उसके कानों को ढकने वाले मोटर के 'मडगार्ड' जैसे कोने अब ऊपर मुड़े थे और पौराणिक राक्षसों के सींगों का दृश्य उपस्थित कर रहे थे। चेहरा उनका झुर्रियों से भरा था और चश्मे का फ्रेम नाक के ऊपर टूट गया था। उसे उन्होंने डोरा लपेटकर मजबूत कर लिया था। दाँत उनके नक़ली थे और शायद ढीले भी थे; क्योंकि उन्हें वे हमेशा इस तरह मुँह चला-चलाकर पीछे सरकाये रखते थे जैसे 'चुइंगम' चबा रहे हों। गोविन्द को उनके इस मुँह चलाने और मुँह से निकली तरह-तरह की आवाज़ों से बड़ी उबकाई-सी आती थी और

जब वे उससे बात करते तो वह प्रयत्न करके अपना ध्यान उस ओर से हटाए रखता। लाला रूपाराम की गरदन हमेशा इस तरह हिलती रहती जैसे खिलौने वाले बुड्ढे की गरदन का स्प्रिंग ढीला हो गया हो। घुटनों तक की मैली-कुचैली धोती और मिलिटरी के कबाड़िया बाजार से खरीद कर लाये गए मोज़ों पर बाँधने की पट्टियाँ, जो शायद उन्हे गठिया के दर्द से भी बचाती थी। बिना फ़ीते के खीसें निपोरते फटे-पुराने बूट— उन्हें देखकर हमेशा गोविन्द को लगता कि इस आदमी का अन्त समय निकट आ गया है।

जब लाला रूपाराम पास आ गए तो उनके सम्मान में चेहरे पर चिकनाई वाली मुस्कान लाकर उनकी ओर देखते हुए स्वागत किया। ईंटों के चबूतरे पर लगभग दो सौ स्याही के दाग और छेदवाली दरी पर, रामस्वरूप के उससे सटकर खड़े होने से, एक मोटी-सी सिकुड़न पड़ गई थी। उसे हाथ से ठीक करके उसने कहा, "लालाजी, यहाँ बैठिए···।"

लालाजी ने हाँफते हुए बिना बोले ही इशारा कर दिया कि नहीं, वे ठीक हैं। और वे टीन की कुरसी पर ही उसकी ओर मुँह करके बैठ गए और हांफते रहे। असल मे उन्हें साँस की बीमारी थी और वे हमेशा प्यासे कुत्ते की तरह हाँफते रहते थे।

उनके वहाँ आ बैठने से एक बार तो गोविन्द काँप उठा, कहीं कम्बख़्त को पता तो नहीं चल गया, कुछ पूछने-ताछने न आया हो। हालाँकि लाला रूपाराम इस समय खा-पीकर एक बार चक्कर ज़रूर लगाते थे, लेकिन उसे विश्वास हो गया कि हो-न-हो बुड्ढा ताड़ गया है। उसका दिल धसक चला। रूपाराम अभी हाँफ रहे थे। गोविन्द सिर झुकाए ही हिसाब-किताब जोड़ता रहा। आखिर स्थिति सँभालने की दृष्टि से उसने कहा—"लालाजी, आज मेरा नाम आ गया कॉलेज में।"

"अच्छा !" लालाजी ने खाँसी के बीच में ही कहा। वह एक हाथ से डंडे को धरती पर टेके थे, दूसरे हाथ में कलाई तक गोमुखी बँधी

थी, जिसके भीतर उँगलियाँ चला-चलाकर वह माला घुमा रहे थे और उनका वह हाथ टोंटा-सा लग रहा था।

वातावरण का बोझ बढ़ता ही चला जा रहा था कि एक घटना हो गई।

उन्होने साँस इक्ट्ठी करके कुछ बोलने को मुँह खोला ही था कि भीतर आँगन का टट्टर (लोहे का जाल) भयंकर रूप से झनझना उठा, जैसे कोई बहुत ही भारी चीज़ ऊपर से फेंक दी गई हो। और फिर ज़ोर से बजती हुई खनखनाती कलछी जैसी चीज़ नीचे आ गिरी, उसके पीछे चिमटा, सँडासी''''और फिर तो उसे ऐसा लगा जैसे कोई बाल्टी, कड़ाही तवा इत्यादि निकालकर टट्टर पर फेंक रहा है और पानी और छोटी-मोटी चीज़े नीचे गिर रही है। उसके साथ कुछ ऐसा कोलाहल और कुहराम भीतर सुनाई दिया जैसे आग लग गई हो।

गोविन्द झटककर सीधा हो गया—कहीं सचमुच आग-वाग तो नही लग गई ? उसने प्रश्न-सूचक दृष्टि से चौंककर लाला की तरफ देखा और वह आश्चर्य से अवाक् रह गया। लाला परेशान ज़रूर दिखाई देता था लेकिन कोई भयंकर घटना हो गई है और उसे दौडकर जाना चाहिए ऐसी कोई बात उसके चेहरे पर नही थी। मिस्त्री और चौकीदार, दोनो बड़े दबे व्यंग्य से एक-दूसरे की ओर देखते, मुस्कराते, लाला की ओर निगाहें फेंक रहे थे। किसी को भी कोई खास चिन्ता नही थी। भीतर कोलाहल बढ़ रहा था, चीज़े फिंक रही थी और टट्टर की खड़खडाहट-घनघनाहट गूँजती जा रही थी। आखिर यह क्या हो रहा है ? उत्तेजना से उसकी पसलियाँ तड़कने को हो आईं। वह लाला से यह पूछने ही वाला था कि यह क्या है, तभी बड़े कष्ट से हाथ की लकड़ी पर सारा ज़ोर देकर वह उठ खड़ा हुआ''''और घिसटता-सा जहाँ से आया था उसी गली में चला गया। जाते हुए उलटकर धीरे से उसने किवाड़ बन्द कर दिए। मिस्त्री और चौकीदार ने मुक्त होकर बदन ढीला किया, एक-दूसरे की ओर मुस्कराकर देखा

खँखारा और फिर एक बार खुलकर मुस्कराये। लाला का पीछा करती गोविन्द की निगाह अब उन लोगों की ओर मुड़ गई। और जब उससे नहीं रहा गया तो वह खड़ा हो गया। मुर्ग़े के पंखों की तरह कम्बल को बाँहों पर फड़फड़ाकर उसने लपेटा और उस पत्रिका को देखता हुआ चबूतरे से नीचे उतर आया। थोड़ी देर यों ही असमंजस में खड़ा रहा, फिर उस गलियारे के दरवाज़े तक गया कि कुछ दिखाई-सुनाई दे। कोलाहल में चार-पाँच आवाज़ें एक साथ किवाड़ की दरार से घुटी-घुटी सुनाई दीं और उसमें सबसे तेज़ आवाज़ वही थी जिसे उसने लक्ष्मी की आवाज रखा था। हे भगवान्, क्या हो गया? कोई कहीं से गिर पड़ा, आग लग गई, साँप-बिच्छू ने काट लिया? लेकिन जिस तरह ये लोग बैठे देख रहे थे, उससे तो ऐसा लगता था जैसे यह कोई खास बात नहीं है। यह कम्बख़्त किवाड़ क्यों बन्द कर गया? इस वक्त टट्टर इस तरह धमाधम बज रहा था, जैसे उस पर कोई ताण्डव कर रहा हो। उस ऊँची, चीखती महीन आवाज़ में वह नारी-कण्ठ, जिसे वह लक्ष्मी की आवाज़ समझता था, इतना तेज और ज़ोर से बोल रहा था कि लाख कोशिश करने पर भी वह कुछ नहीं समझ सका।

"परेशान क्यों हो रहे हो, बाबूजी?" चौकीदार की आवाज़ सुनकर वह एकदम सीधा खड़ा हो गया। मुस्कराता हुआ वह कह रहा था, "आज चंडी चेत रही है!" उसकी इस बात पर मिस्त्री हँसा।

गोविन्द बुरी तरह झुँझला उठा। कोई इतनी बड़ी बात, घटना हो रही है और ये बदमाश इस तरह मज़ा लूट रहे हैं! फिर भी वह अत्यन्त चिन्तित और उत्सुक-सा उधर मुड़ा।

इस बड़े कमरे या छोटे हॉल में हर चीज़ पर आटे का महीन पाउडर छाया हुआ था। एक ओर आटे में नहाई चक्की, काले पत्थर के बने हाथी की तरह चुपचाप खड़ी थी और उसका पिसे आटे को सँभालने वाला गिलाफ़-सा सूँड की तरह लटका था। उसी की सीध में दूसरी दीवार के नीचे मोटर लगी थी जहाँ से एक चौड़ा पट्टा चक्की

को चलाता था। इतने हिस्से में सुरक्षा के लिए एक रेलिंग लगा दिया था। सामने की दीवार में चिपके लम्बे-चौड़े लाल चौकोर तख़्ते पर एक खोपड़ी और दो हड्डियों के क्रॉस के नीचे 'ख़तरा' और 'डेंजर' लिखे थे। उसके चबूतरे की बगल में ही छत से जाती जंजीर में एक बड़ी लोहे की तराज़ू, कथाकली की मुद्रा में एक बाँह ऊँची किये लटकी थी, क्योंकि दूसरे पलड़े में मन से लेकर छटाँक तक के बाटों का ढेर लगा था। यद्यपि लाला रूपाराम अक्सर चौकीदार को डाँटते थे कि रात में इसे उतारकर रख दिया कर, लेकिन किसी-किसी दिन आधी रात तक चक्की चलती और दुकान-दफ़्तर वाले तो सुबह पाँच बजे से ही आने लगते। उस समय बरफ जैसी ठण्डी तराज़ू को छूना और टाँगना दिलावरसिंह को अधिक पसन्द नहीं था। वह उसे यह कहकर टाल देता कि लड़ाई में सुबह-ही सुबह काफी ठण्डी बन्दूकें लेकर मार्च और परेड कर लिया, अब क्या ज़िन्दगी-भर ठण्डा लोहा ही छूना उसकी किस्मत में बदा है? इसीलिए वह उसे टँगी ही रहने देता, हालाँकि ठीक बीच में होने के कारण वह जब भी दरवाज़ा खोलने उठता तो ख़ुद ही उससे टकराता-उलझता और रात के एकान्त में फ़ौजी गालियों का स्वगत भाषण करता। पुराना कैलेण्डर, एक ओर पिसाई के लिए भरे अन्न या पिसे आटे के बोरे, कनस्तर, पोटलियाँ और ऊपर चढ़कर अन्न डालने का मज़बूत-सा स्टूल। इस समय दोनों टाँगें, जिनमें कीलदार फ़ुलबूट डटे हुए थे, धरती पर फैलाए चौकीदार मज़े में खाट की पाटी पर झुका बैठा अपना पुराना—पहली लड़ाई के सिपाहीपने की याद—ग्रेटकोट चारों ओर लपेटे शान से बीड़ी धौंक रहा था और धीरे-धीरे सामने बैठे मिस्त्री सलीम से बातें भी करता जा रहा था।

उसके और मिस्त्री के बीच में एक बरोसी जल रही थी; जब कभी ध्यान आ जाता तो पास रखे कोयले-लकड़ी कुछ डाल देता और कभी-कभी अत्यन्त निस्पृहता से हाथ या पाँव उस दिशा में बढ़ाकर गरमी

सोखता। सलीम सिर झुकाए गरम पानी की बाल्टी मे ट्यूब डुबा-डुबाकर उनके पंक्चर देखने में व्यस्त था। उमके आसपास दस-बारह काले-लाल ट्यूब, रबर की कतरनें, क़ैंची, पेंच, प्लास, सोल्यूशन, चमड़े की पेटी और एक ओर टायर लटके दस-बारह साइकिल के पहियों का ढेर था। अपने इस सामान से उसने आधे से ज़्यादा कमरा घेर लिया था।

जब गोविन्द उसके पास आया तो वह सिर झुकाए ही हँसता हुआ ट्यूब के पंक्चर को पकडकर कान में लगी कॉपीइंग पेंसिल को थूक से गीला करते हुए, (हालाँकि ट्यूब पानी से भीगा था और सामने बाल्टी भरा पानी रखा था) निशान लगाता हुआ जवाब दे रहा था, "यह कहा जमादार साहब ने!" फिर एक भौंह को ज़रा तिरछी करके बोला, "लाला कुछ नामा ढीला करे तो....उसकी लड़की पर जिनका साया है, उसका इलाज तो हम अपने मौलवी बदरुद्दीन साहब से मिनटो में करा दें।"

गोविन्द का माथा ठनका—लाला की किसी लडकी पर क्या कोई देवी आती है? उसे अपने गाँव की एक ब्राह्मणी विधवा तारा का एकदम ध्यान हो आया। उसे भी जब देवी आती थी तो घर के बरतन उठा-उठाकर फेकती थी, उसका सारा बदन ऐठने लगता था, मुँह से झाग जाने लगते थे, गरदन मरोड़ खाने लगती थी, आँखें और जीभ बाहर निकलने लगती थीं। कौन लड़की है लाला की? लक्ष्मी तो नहीं? भगवान् करे लक्ष्मी न हो; उसका दिल आशंका से डूबने-सा लगा। उसने सुना, कोलाहल अब लगभग शान्त हो गया था और कहीं दूर से रह-रहकर एक हल्की रोने की आवाज-भर सुनाई देती थी। शायद किसी को दौरा-वौरा ही आ गया है, तभी तो ये लोग निश्चिन्त हैं।

गोविन्द को सुनाकर चौकीदार बोला, "नामा? तुम भी यार मिस्त्री किसी दिन बेचारे बुड्ढे का हार्ट फेल कराओगे। और बेहा, इस 'जिन' का इलाज तुम्हारे मौलवी के पास नहीं है, समझे? वह तो हवा ही दूसरी

है। आओ बाबूजी, बैठो।"

चौकीदार ने बैठे-बैठे स्टूल की तरफ इशारा किया। असल में वह गोविन्द को 'बाबूजी' ज़रूर कहता था, लेकिन उसका विशेष आदर नहीं करता था। एक तो गोविन्द कस्बे से आया था, और उसे शहर में चौकीदारी करते हो चुके थे नकद बीस साल; दूसरे वह फौज में रहा था और कैरो तक घूम आया था—उम्र, अनुभव, तहज़ीब सभी में वह अपने को गोविन्द से ज़्यादा ही समझता था। लेकिन गोविन्द को इस समय इस सबका ध्यान नहीं था। उसने स्टूल से टिककर ज़रा सहारा लेते हुए चिन्तित स्वर में पूछा, "क्यों भई, यह शोर-गुल क्या था? क्या हो रहा था?"

मिस्त्री ने सिर उठाकर उसे देखा और चौकीदार की मुस्कराती नज़रों से उसकी आँखें मिलीं। उसने अपनी खिचड़ी मूँछों पर हथेली फेरते हुए कहा, "कुछ नहीं बाबूजी, ऊपर कोई चीज किसी बच्चे ने गिरा दी होगी···"

मिस्त्री ने कहा, "जमादार साहब, झूठ क्यों बोलते हो? साफ़-साफ़ क्यों नहीं बता देते? अब इनसे क्या छिपा रहेगा?"

"तू खुद क्यों नहीं बता देता?" चौकीदार ने कहा और जेब से बीड़ी का बंडल निकाल लिया, कागज नोचकर आटे की लोई बनाने की तरह उसे ढीला किया, फिर एक बीड़ी निकालकर मिस्त्री की ओर फेंकी। दूसरी को दोनों तरफ से फूँका और जलाने के लिए किसी दहकते कोयले की तलाश में बरोसी में निगाहें घुमाते हुए ज़रा व्यस्तता से बात जारी रखी—"तुझे क्या मालूम नहीं है?"

इन दोनों की चुहल से गोविन्द की झुँझलाहट बढ़ रही थी। उसे लगा ज़रूर ही दाल में काला है, जिसे ये लोग टाल रहे है। मिस्त्री जीभ निकाले पंक्चर के स्थान को रेगमाल से घिस रहा था। वह जब भी कोई काम एकाग्र-चित्त से करता तो अपनी जीभ को निकालकर ऊपर के होंठ की तरफ मोड़ लेता था। उसकी चाँद के बीच में उभरते गंज को

देखकर गोविन्द ने सोचा कि गंजापन तो रईसी की निशानी है, लेकिन यह कम्बख्त तो आधी रात में यहाँ पंक्चर जोड़ रहा है। उसने उसी तरह सिर झुकाए ही कहा, "अब मैं बाबूजी को किस्सा बताऊँ या इन ट्यूबों से सिर फोड़ूँ ? साले सड़कर हलुआ तो हो गए हैं, पर बदलेगा नही। मन तो होता है, सबको उठाकर इस अँगीठी मे रख दूँ, होगा सुबह सो देखा जायगा...."

"ये इतने ट्यूब है काहे के ?" ज़रा आत्मीयता जताने को गोविन्द ने पूछा—"हालत तो सचमुच इनकी बड़ी खराब हो रही है।"

"आपको नहीं मालूम ?" इस बार काम छोड़कर मिस्त्री ने ग़ौर से गोविन्द को देखा—"यह आपके लाला के जो दो दर्जन रिक्शा चलते हैं, उनका कूड़ा है। यह तो होता नहीं कि इतने रिक्शे हैं, रोज टूट-फूट मरम्मत होती ही रहती है; हमेशा के लिए लगा ले एक मिस्त्री; दिन-भर की छुट्टी हुई। सो तो होगा नहीं, ट्यूब-टायर मेरे सिर हैं और बाकी टूट-फूट मिस्त्री अली अहमद ठीक करते है।" फिर उसने यूँ ही पूछा, "आप बाबूजी, नये आये है ?"

"हाँ दो-तीन दिन ही तो हुए है। मैं यहाँ पढ़ने आया हूँ।" गोविन्द ने कहा। उसके पेट में खलबलाहट मच रही थी, लेकिन वह नये सिरे से पूछने को सूत्र खोज रहा था।

"तभी तो," मिस्त्री बोला, "तभी तो आप यह सब पूछ रहे है। रात को इसका हिसाब रखते हैं न ? हाँ, थोड़े दिनों में अपने फ़रजन्द को भी आपसे पढ़वायेगा।" अपने 'फ़रजन्द' शब्द में जो व्यंग्य उसने दिया था उससे खुद ही प्रसन्न होकर मुस्कराते हुए उसने चौकीदार की दी हुई बीड़ी सुलगाई।

"अबे, उन्हें यह सब क्या बताता है ? वे तो उसके गाँव से ही आये हैं। उन्हें सब मालूम है।" चौकीदार बोला।

"नहीं, सच मुझे कुछ नहीं मालूम।" गोविन्द ने जरा आश्वासन के स्वर में कहा, "इन लाला के तो पिता ही यहाँ चले आये थे न, सो

हम लोगों को कुछ भी नहीं मालूम; बताइए न, क्या बात है ?" गोविन्द ने आदरपूर्वक जरा खुशामद के लहज़े में पूछा।

शायद उसकी जिज्ञासु व्याकुलता से प्रभावित होकर ही मिस्त्री बोला, "अजी कुछ नहीं, लाला की बड़ी लड़की जो है न, उसे मिरगी का दौरा आता है। कोई कहता है, उसे हिस्टेरिया है, पर हमारा तो क़यास यह है कि बाबूजी, दौरा-वौरा कुछ नहीं, उस पर किसी आसेब का साया है""उस बेचारी को तो कुछ होश रहता नहीं।"

"विधवा है ?" जल्दी से बात काटकर गोविन्द धक्-धक् करते दिल से पूछ बैठा—हाय, लक्ष्मी ही न हो !

इस बार पुनः दोनों की निगाहों का आपस में टकराकर मुस्कराना उससे छिपा न रहा। बीड़ी के लम्बे कश के धुएँ को लीलकर इस बार चौकीदार ज़बरदस्ती गम्भीर बनकर बोला, "अजी, इसने उसकी शादी ही कहाँ की है ?"

"नाम क्या है ?" गोविन्द से नहीं रहा गया।

"लक्ष्मी।"

"लक्ष्मी···!" उसके मुँह से निकल गया और जैसे एकदम उसकी सारी शक्ति किसी ने सोख ली हो, जिज्ञासा और उत्तेजना से तना शरीर ढीला पड़ गया।

चौकीदार इस बार अत्यन्त ही रहस्यमय ढंग से हँसा, जैसे कह रहा हो—अच्छा तुम भी जानते हो !

गोविन्द के मन में स्वाभाविक प्रश्न उठा—उसकी उम्र क्या है ?

लेकिन चौकीदार ने पूछा, "तो सचमुच बाबूजी, आप इनके घर के बारे में कुछ भी नहीं जानते ?"

"नहीं तो भाई, मैंने बताया तो, मैं इनके बारे में कुछ भी क़तई नहीं जानता।" एक तरह आत्म-समर्पण के भाव से गोविन्द बोला।

"लेकिन लक्ष्मी का किस्सा तो सारे शहर में मशहूर है," चौकीदार बोला।

देखकर गोविन्द ने सोचा कि गंजापन तो रईसी की निशानी है, लेकिन यह कम्बख्त तो आधी रात में यहाँ पंक्चर जोड़ रहा है। उसने उसी तरह सिर झुकाए ही कहा, "अब मैं बाबूजी को किस्सा बताऊँ या इन ट्यूबों से सिर फोड़ूँ? साले सड़कर हलुआ तो हो गए है, पर बदलेगा नहीं। मन तो होता है, सबको उठाकर इस अँगीठी मे रख दूँ, होगा सुबह सो देखा जायगा....."

"ये इतने ट्यूब है काहे के?" ज़रा आत्मीयता जताने को गोविन्द ने पूछा—"हालत तो सचमुच इनकी बड़ी खराब हो रही है।"

"आपको नही मालूम?" इस बार काम छोड़कर मिस्त्री ने ग़ौर से गोविन्द को देखा—"यह आपके लाला के जो दो दर्जन रिक्शा चलते हैं, उनका कूड़ा है। यह तो होता नहीं कि इतने रिक्शे है, रोज़ टूट-फूट मरम्मत होती ही रहती है; हमेशा के लिए लगा ले एक मिस्त्री; दिन-भर की छुट्टी हुई। सो तो होगा नहीं, ट्यूब-टायर मेरे सिर है और बाकी टूट-फूट मिस्त्री अली अहमद ठीक करते है।" फिर उसने यूँ ही पूछा, "आप बाबूजी, नये आये हैं?"

"हाँ दो-तीन दिन ही तो हुए है। मैं यहाँ पढ़ने आया हूँ।" गोविन्द ने कहा। उसके पेट में खलबलाहट मच रही थी, लेकिन वह नये सिरे से पूछने को सूत्र खोज रहा था।

"तभी तो," मिस्त्री बोला, "तभी तो आप यह सब पूछ रहे है। रात को इसका हिसाब रखते है न? हाँ, थोड़े दिनों में अपने फ़रजन्द को भी आपसे पढ़वायेगा।" अपने 'फ़रजन्द' शब्द में जो व्यंग्य उसने दिया था उससे खुद ही प्रसन्न होकर मुस्कराते हुए उसने चौकीदार की दी हुई बीड़ी सुलगाई।

"अबे, उन्हें यह सब क्या बताता है? वे तो उसके गाँव से ही आये हैं। उन्हें सब मालूम है।" चौकीदार बोला।

"नहीं, सच मुझे कुछ नही मालूम।" गोविन्द ने ज़रा आश्वासन के स्वर में कहा, "इन लाला के तो पिता ही यहाँ चले आये थे न, सो

हम लोगों को कुछ भी नहीं मालूम; बताइए न, क्या बात है ?" गोविन्द ने आदरपूर्वक जरा खुशामद के लहजे में पूछा।

शायद उसकी जिज्ञासु व्याकुलता से प्रभावित होकर ही मिस्त्री बोला, "अजी कुछ नही, लाला की बड़ी लड़की जो है न, उसे मिरगी का दौरा आता है। कोई कहता है, उसे हिस्टेरिया है, पर हमारा तो क़यास यह है कि बाबूजी, दौरा-वौरा कुछ नहीं, उस पर किसी आसेब का साया है····उस बेचारी को तो कुछ होश रहता नहीं।"

"विधवा है ?" जल्दी से बात काटकर गोविन्द धक्-धक् करते दिल से पूछ बैठा—हाय, लक्ष्मी ही न हो !

इस बार पुनः दोनों की निगाहों का आपस में टकराकर मुस्कराना उससे छिपा न रहा। बीड़ी के लम्बे कश के धुएँ को लीलकर इस बार चौकीदार ज़बरदस्ती गम्भीर बनकर बोला, "अजी, इसने उसकी शादी ही कहाँ की है ?"

"नाम क्या है ?" गोविन्द से नही रहा गया।

"लक्ष्मी।"

"लक्ष्मी···!" उसके मुँह से निकल गया और जैसे एकदम उसकी सारी शक्ति किसी ने सोख ली हो, जिज्ञासा और उत्तेजना से तना शरीर ढीला पड़ गया।

चौकीदार इस बार अत्यन्त ही रहस्यमय ढंग से हँसा, जैसे कह रहा हो—अच्छा तुम भी जानते हो !

गोविन्द के मन में स्वाभाविक प्रश्न उठा—उसकी उम्र क्या है ?

लेकिन चौकीदार ने पूछा, "तो सचमुच बाबूजी, आप इनके घर के बारे में कुछ भी नहीं जानते ?"

"नहीं तो भाई, मैंने बताया तो, मैं इनके बारे में कुछ भी क़तई नहीं जानता।" एक तरह आत्म-समर्पण के भाव से गोविन्द बोला।

"लेकिन लक्ष्मी का किस्सा तो सारे शहर में मशहूर है," चौकीदार बोला।

"आप शायद नये आये है, यही वजह है।" फिर मिस्त्री की ओर देखकर बोला, "क्यों मिस्त्री साहब, तो बाबूजी को किस्सा बता ही दूं....."

"अरे लो, यह भी कोई पूछने की बात है ! इसमें छिपाना क्या ? यहाँ रहेंगे तो कभी-न-कभी जान ही जायँगे।"

"अच्छा तो फिर सुन ही लो यार, तुम भी क्या कहोगे···" चौकीदार ने आनन्द मे आकर कहना शुरू किया—"आप शायद जानते है, यह हमारा लाला शहर का मशहूर कंजूस और मशहूर रईस है···।"

"लामुहाला जो कंजूस होगा वह रईस तो होगा ही।" मिस्त्री बोला।

"नहीं मिस्त्री साहब, पूरा किस्सा सुनना हो तो बीच मे मत टोको।" चौकीदार इस हस्तक्षेप पर नाराज़ हो गया।

"अच्छा-अच्छा सुनाओ।" मिस्त्री बुड्ढों की तरह मुस्कराया।

"इसकी यह चक्की है न, सहालगों में इस पर हज़ारों मन पिसता है, वैसे भी दो-ढाई सौ मन तो कम-से-कम पिसता ही है रोज। अफसरों और क्लर्कों को कुछ खिला-पिलाकर लड़ाई के ज़माने में इसे मिलटरी के कुछ ठेके मिल ही जाते थे। आप जानो, मिलटरी का ठेका तो जिसके पास आया सो बना। आप उन दिनों देखते 'लक्ष्मी फ्लोर मिल' के हल्ले। बोरे यों चुने रखे रहते थे जैसे मोरचे के लिए बालू भर-भरकर रख दिए हों। उसमें इसने खूब रुपया पीटा, मिलटरी के गेहूँ बेच दिए औने-पौने भाव, और रद्दी सस्ते वाले ख़रीदकर कोटा पूरा किया, उसमें खड़िया मिला दी। पिसाई के उलटे-सीधे पैसे तो इसने मारे ही, ब्लैक, चार-सौ बीसी, चोरी—क्या-क्या इसने नहीं किया। इसके अलावा, एक बहुत बड़ी साबुन की फैक्ट्री और एक काफ़ी बड़ा जूतों का कारखाना भी इसका है। उसे इसके बेटे सँभालते हैं। पच्चीस-तीस रिक्शे और पाँच मोटर-ट्रक चलते हैं। दस-बारह से ज़्यादा इसके मकान है, जिनका किराया आता है। रुपये सूद पर देता है। शायद गाँव में भी काफ़ी ज़मीन इसने ले रखी है। एक काम है

साले का ! इतना तो हमें पता है, बाक़ी इसकी असली आमदनी तो कोई भी नही जानता, कुछ-न-कुछ करता ही रहता है। भगवान् ही जाने ! रात-दिन किसी-न-किसी तिकड़म में लगा ही रहता है। करोड़ो का आसामी है। और सबसे ताज्जुब की बात तो यह है कि यह सब सिर्फ़ इसी पच्चीस-छब्बीस साल मे जमा की हुई रक़म है।" चौकीदार दिलावरसिंह मिलटरी में रह आने के कारण खूब बातूनी था और मोरचे के, अपने अफसरों के किस्सों को, अपनी बहादुरी के कारनामों को खूब नमक-मिर्च लगाकर इतनी बार सुना चुका था कि उसे कहानी सुनाने का मुहावरा हो गया था। हर बात के उतार-चढ़ाव के साथ उसकी आँखे और चेहरे की भंगिमाएँ बदलती रहती थीं।

उसकी बातें ग़ौर और रुचि से सुनते हुए भी गोविन्द के मन में एक बात टकराई—लक्ष्मी को दौरे आते हैं, कहीं ऐसा तो नही कि उसने जो यह निशान लगाकर भेजे हैं, ये भी दौरों की दशा में ही लगाए हों और उनका कोई विशेष गहरा अर्थ न हो। इस बात से सचमुच उसे बड़ी निराशा हुई, फिर भी उसने ऊपर से आश्चर्य प्रकट करके पूछा —"सिर्फ पच्चीस-छब्बीस साल ?"

नई बीड़ी जलाते हुए चौकीदार ने ज़रा जोर से सिर हिलाया। गोविन्द ने सोचा, 'और लक्ष्मी की उम्र क्या होगी ?'

"और कंजूसी की तो हद आपने देख ही ली होगी ! बुड्ढा हो गया है, साँस का रोग हो रहा है, सारा बदन काँपता है, लेकिन एक पैसे का भी फ़ायदा देखेगा तो दस मील धूप में हाँफता हुआ पैदल जायगा, क्या मजाल जो सवारी कर ले ! गरमी आई तो पूरा शरीर नंगा; कमर में धोती—आधी पहने, आधी बदन में लपेटे। जाड़ा हुआ तो यही ड्रेस, बस इसी में पिछले दस साल से तो मैं देख रहा हूँ। कभी किसी मकान की मरम्मत न कराना, सफेदी-सफाई न कराना और हमेशा यही ध्यान रखना कि कौन कितनी बिजली खर्च कर रहा है, कहाँ बेकार नल या पंखा चल रहा है। लड़का है सो उसे मुफ़्त के चुङ्गी के स्कूल

मे डाल दिया है; लड़की घर पर बिठा रखी है। एक-एक पैसे के लिए घण्टों रिक्शावालों-ट्रकवालों से लडना, बहसें करना, और चक्की वालों की नाक में दम रखना, उन्हे दिन-रात यह सिखाना कि किस चालाकी से आटा बचाया जा सकता है। बीसियों रुपये का आटा रोज़ होटल वालों को बिकता है, सो अलग। जिस दिन से चक्की खुली है, घर के लिए आटा बाज़ार से आया ही नही। आप विश्वास मानिए, कम-से-कम बारह-पन्द्रह हज़ार की आमदनी होगी इसकी, लेकिन सूरत देखिए, मक्खियाँ भिनभिनाती रहती हैं। किसी आने-जाने वाले के लिए एक कुरसी तक नही, पान-सुपारी की तो बात ही दूर है। कौन कह देगा कि यह पैसे वाला है? यह उम्र होने आई, सुबह से शाम तक बस, पैसे के पीछे हाय-हाय! दुनिया के किसी और काम से इसे मतलब ही नही है। सभा हो, सोसाइटी हो, हड़ताल हो, छुट्टी हो, कुछ भी हो—लेकिन लाला रूपाराम अपनी ही धुन मे मस्त! नौकरों को कम-से-कम देना पड़े, इसलिए खुद ही उनके काम को देखता है। मुझसे तो कुछ इसलिए नही कहता कि मुझ पर थोड़ा विश्वास है; दूसरे मेरी ज़रूरत सबसे बड़ी है। लेकिन बाकी हर नौकर रोता है इसके नाम को। और मज़ा यह कि सब जानते है कि झक्की है। कोई इसकी बात को ध्यान से सुनता नही। बाद में सब इसका नुक्सान करते है, आस-पास के सभी हँसते और गालियाँ देते है···"

"बच्चे कितने है····?" चौकीदार को इन बेकार की बातों मे बहकता देखकर गोविन्द ने सवाल किया।

"उसी बात पर आता हूँ," चौकीदार इत्मीनान से बोला, "सच बाबूजी, मैं यह देख-देखकर हैरान हूँ कि इस उम्र तक तो इसने यह दौलत जुटाई है, अब इसका यह कम्बख़्त करेगा क्या? लोग जमा करते हैं कि बैठकर भोगें; लेकिन यह राक्षस तो जमा करने में ही लगा रहता है। इसे जमा करने की ही ऐसी हाय-हाय रही है कि दौलत किसलिए जमा की जाती है, इस बात को यह बेचारा बिलकुल भूल गया है।" फिर

बड़े चिन्तित और दार्शनिक मूड में दिलावरसिंह ने आग वाली राख को देखते हुए कहा, "इस उम्र तक तो इसे जोड़ने की ऐसी हवस है, अब इसका यह भोग कब करेगा ? सचमुच बाबूजी, जब मैं कभी सोचता हूँ तो बेचारे पर बड़ी दया आती है। देखो, आज की तारीख तक यह बेचारा भाग-दौड़कर, लू-धूप की चिन्ता छोड़कर, जमा कर रहा है। एक पाई उसमें से खा नहीं सकता, जैसे किसी दूसरे का हो। अब मान लीजिए, कल यह मर जाता है तो यह सब किसके लिए जमा किया गया ? बेचारे के साथ कैसी लाचारी है, मरकर-जीकर, नौकर की तरह जमा किये जा रहा है, न खुद खा सकता है, न देख सकता है कि कोई दूसरा छू भी ले—जैसे धन के ऊपर बैठा साँप, खुद उसे खा नही सकता, खाने तो खैर देगा ही क्या ? उसकी रखवाली करना और जोड़ना...." और लाला रूपाराम के प्रति दया से अभिभूत होकर चौकीदार ने एक गहरी साँस ली। फिर दूसरे क्षण दाँत किटकिटाता हुआ बोला, "और कभी-कभी मन होता है छुरा लेकर साले की छाती पर जा चढ़ूँ, और मुरब्बे के आम की तरह गोदूँ। अपने पेट में जो इसने इतना धन भर रखा है, उसकी एक-एक पाई उगलवा लूँ। चाहे खुद न खाये, लेकिन जिसे अपने बच्चों को भी खिला-पिला नहीं सकता, उस धन का क्या होगा ?

"इसके बच्चे कितने हैं...?" इस बार फिर गोविन्द अधीर हो आया। असल में वह चाहता था कि इन दार्शनिक उद्गारों को छोड़कर वह जल्दी-से-जल्दी मूल विषय पर आ जाय—लक्ष्मी के विषय में बताए।

वर्णन में बह जाने की अपनी कमज़ोरी पर चौकीदार मुस्कराया और बोला—"इसके बच्चे है चार; बीवी मर गई, बाकी किसी नाते-रिश्तेदार को झाँकने नहीं देता। ऊपर कोई नौकर भी नहीं है। बस, एक मरी-मराई-सी बुढ़िया पाल ली है, लोग बड़े भाई की बीवी बताते हैं, बस, वही सारी देखभाल करती है। और तो किसी को मैंने साथ देखा नहीं। खुद, तीन लड़के और एक लड़की....।"

"बड़े दो लड़के तो साथ नही रहते·····" इस बार मिस्त्री बोला।

"हाँ, वे लोग अलग ही रहते हैं। दिन मे एकाध चक्कर लगा जाते है। एक जूतों का कारखाना देखता है, दूसरा साबुन की फैक्ट्री सँभालता है। इस साले को उन पर भी विश्वास नही है। पूरे कागज़-पत्तर, हिसाब-किताब अपने पास ही रखता है; नियम से शाम को वहाँ जाता है वसूली करने। लेकिन लड़के भी बड़े तेज़ हैं, ज़रा शौकीन तबीयत पाई है। इसके मरते ही देख लेना मिस्त्री, वे इसकी सारी कंजूसी निकाल डालेंगे।" फिर याद करके बोला, "और क्या कहा तुमने ? साथ रहने की बात, सो भैया, जब तक अकेले थे, तब तक तो कोई बात ही नहीं थी; लेकिन अब तो उनकी बीवियाँ आ गई है न, एकाध बच्चा भी आ गया है घर में, सो उसे दिन-भर गोदी में लटकाए फिरता है। इसके घर में एक चण्डी जो है न, उसके साथ सबका निभाव नही हो सकता।"

एकदम गोविन्द के मन में आया—लक्ष्मी ! और वह ऊपर से नीचे तक सिहर उठा। "कौन ? लक्ष्मी !" उसके मुँह से निकल गया।

"जी हाँ, उसी की बदौलत तो यह सारा खेल है, वही तो इस भण्डारे की चाबी है। वह न होती तो यह सब ताम-झाम आता कहाँ से ? उसने तो इसके दिन ही पलट दिए, नहीं तो था क्या इसके पास ?" इस बार यह बातें चौकीदार ने ऐसे लटके से कही, जैसे सचमुच किसी रहस्य की चाबी दे दी हो।

"कैसे भाई, कैसे ?" गोविन्द पूछ बैठा। उसका दिमाग चकरा गया। यह क्या विरोधाभास है ? एक पल को उसके दिमाग में आया—कहीं यह रुपया कमाने के लिए तो लक्ष्मी का उपयोग नही करता ? राक्षस ! चाण्डाल !

उसकी व्याकुलता पर चौकीदार फिर मुस्कराया, बोला—"बाप तो इसका ऐसा रईस था भी नहीं, फिर वह कच्ची गृहस्थी छोड़कर मर गया था। ज़्यादा-से-ज़्यादा हज़ार-हज़ार रुपया दोनों भाइयों के पल्ले पड़ा

होगा। शादियाँ दोनों की हो चुकी थीं। कुछ कारबार खोलने के विचार से यह सट्टे में अपने रुपये दूने-चौगुने करने जो पहुँचा तो सारे गँवा आया। बड़े भैया रोचूराम ने एक पनचक्की खोल डाली। पहले तो उसकी भी हालत डाँवाडोल रही थी; लेकिन सुनते हैं कि जब से उसकी लड़की गौरी पैदा हुई उसकी हालत सँभलती ही चली गई। यह उसी के यहाँ काम करता था, मियाँ-बीवी वहीं पड़े रहते। ऐसा कुछ उस लड़की का पाँव आया कि लाला रोचूराम सचमुच के लाला हो गए। इन लोगों के बडे-बूढ़ों का कहना था कि लड़की उनके खानदान में भागवान होती है। अब तो यह अपना लाला कभी इस ओझा के पास जा, कभी उस पीर के पास जा, कभी इसकी 'मानता', कभी उसका 'संकल्प'—दिन-रात बस यही कि हे भगवान्, मेरे लड़की हो, और पता नहीं कैसे, भगवान् ने सुन ली और लड़की ही आई। आप विश्वास नहीं करेंगे, फिर तो सचमुच ही रूपाराम के नक़्शे बदलने लगे। पता नही गड़ा हुआ मिला या छप्पर फाड़कर मिला, लाला रूपाराम के सितारे फिर गए....। इसे विश्वास होने लगा कि यह सब इसी की कृपा है और वास्तव में यह कोई देवी है। इसने उसका नाम लक्ष्मी रखा और साहब, कहना पड़ेगा कि लक्ष्मी सचमुच लक्ष्मी ही बनकर आई। थोड़े दिन में ही 'लक्ष्मी फ़्लोर मिल' अलग बन गई। अब तो इसका यह हाल कि मिट्टी भी छू दे तो सोना बन जाय और कंकड़ को उठा ले तो हीरा दीखे। फिर आ गई लडाई और इसके पंजे-छक्के हो गए। इसे ठेके मिलने लगे। समझिए, एक के बाद एक मकान खरीदे जाने लगे, सामान लाने-ले जाने वाले ट्रक आये। इधर रोचूराम भी फल रहा था, और दोनों भाई गर्व से कहते थे—'हमारे यहाँ लड़कियाँ लक्ष्मी बनकर ही आती हैं।' लेकिन फिर एक ऐसा वाकया हो गया कि तस्वीर की शक्ल बदल गई..." चौकीदार दिलावरसिंह जानता था कि यह उसकी कहानी का क्लाइमैक्स है। इसलिए श्रोताओं की उत्सुकता को झटका देने के लिए उसने उँगलियों में दबी, व्यर्थ जलती बीड़ी को

दो-तीन कश लगाकर खत्म किया और बोला :

"गौरी शादी लायक हो गई थी। शायद किसी पड़ोसी लड़के को लेकर कुछ ऐसी-वैसी बातें भी लाला रोचूराम ने सुनीं। लोगों ने भी उँगलियाँ उठाना शुरू कर दिया तो उन्होंने गौरी की शादी कर दी। बस, उसकी शादी होना था कि जैसे एकदम सारा खेल उखड़ गया। उसके जाते ही लाला एक बहुत बड़ा मुकद्दमा हार गया और भगवान् की लीला देखिए, उन्ही दिनो उसकी पनचक्की में आग लग गई। कुछ लोगों का कहना तो यह है कि किसी दुश्मन का काम था। जो भी हो, बड़े हाथी की तरह जो इकबारगी गिरे तो उठना दुश्वार हो गया। लोग रुपये दाब गए और उनका दिवाला निकल गया। दिवाला क्या जी, एक तरह से बिलकुल मटियामेट हो गए। सब-कुछ चौपट हो गया और छल्ला-छल्ला तक बिक गया। एक दिन लालाजी की लाश तालाब में फूली हुई मिली। अब तो हमारे लाला रूपाराम को साँप सूँघ गया, उनके कान खड़े हुए और लक्ष्मी पर पहरा बिठा दिया गया। उसे स्कूल से उठा लिया गया। और वह दिन सो आज का दिन, बेचारी नीचे नही उतरी। घर के भीतर न किसी को आने देता है, न जाने देता है। मास्टर रखकर पढ़ाई की बात पहले उठी थी, लेकिन जब सुना कि मास्टर लोग लड़कियो को बहकाकर भगा ले जाते है तो वह विचार एकदम छोड़ दिया गया। लक्ष्मी खूब रोई-पीटी, लेकिन इस राक्षस ने उसे भेजा ही नहीं। सुनते हैं लड़की देखने-दिखाने लायक···"

बात काटकर मिस्त्री बोला, "अरे देखने-दिखाने लायक क्या, हमने खुद देखा है। जिधर से निकल जाती उधर बिजली-सी कौंध जाती। सौ में एक····।"

उसकी बात का विरोध न करके, अर्थात् स्वीकार करके चौकीदार बोला, "स्कूल में भी सुनते है बड़ी तारीफ थी, लेकिन सबकी साले ने रेड़ कर दी। उसे यह विश्वास हो गया कि यह लड़की सचमुच लक्ष्मी है और जब वह दूसरे की हो जायगी तो एकदम इसका भी

सत्यानाश हो जायगा। इसी डर से न तो किसी को आने-जाने देता है और न उसकी शादी करता है। उसकी हर बात पर पुलिस के सिपाही की तरह नज़र रखता है। उसकी हर बात मानता है, बुरी तरह उसकी इज्ज़त करता है; उसकी हर ज़िद पूरी करता है, लेकिन निकलने नहीं देता। लक्ष्मी सोलह की हुई, सत्रह की हुई, अठारह, उन्नीस''''साल पर साल बीत गए। पहले तो वह सबसे लड़ती थी। बड़ी चिड़चिड़ी और ज़िद्दी हो गई थी। कभी-कभी सबको गाली देती और मार भी बैठती थी, फिर तो मालूम नहीं क्या हुआ कि घण्टों रात-रात-भर पड़ी ज़ोर-ज़ोर से रोती रहती, फिर धीरे-धीरे उसे दौरा पड़ने लगता''''"

"अब क्या उम्र है ?" गोविन्द ने बीच में पूछा।

"उसकी ठीक उम्र तो किसी को भी पता नहीं, लेकिन अन्दाज़ से पच्चीस-छब्बीस से कम क्या होगी ?" घृणा से होंठ टेढ़े करके चौकीदार ने अपनी बात जारी रखी, "दौरा न पड़े तो बेचारी जवान लड़की क्या करे ? उधर पिछले पाँच-छः साल से तो यह हाल है कि दौरे में घंटे-दो घंटे वह बिलकुल पागल हो जाती है। उछलती-कूदती है, बुरी-बुरी गालियाँ देती है, बेमतलब रोती-हँसती है, चीजें उठा-उठाकर इधर-उधर फेंकती है। जो चीज़ सामने होती है उसे तोड़-फोड़ देती है। जो हाथ में आता है उससे मार-पीट शुरू कर देती है, और सारे कपड़े उतारकर फेंक देती है। बिलकुल नंगी हो जाती है और जाँघें और छाती पीट-पीटकर बाप से कहती है...'ले, तूने मुझे अपने लिए रखा है, मुझे खा, मुझे चबा, मुझे भोग'''!' यह पिटता है, गालियाँ खाता है; और सब-कुछ करता है, लेकिन पहरे में ज़रा ढील नहीं होने देता। चुपचाप सिर पर हाथ रखकर बैठा-बैठा सुनता रहता है। क्या ज़िन्दगी है बेचारी की ? बाप है सो उसे भोग नहीं सकता और छोड़ तो सकता ही नहीं। मेरी तो उम्र नहीं रही, वरना कभी मन होता है ले जाऊँ भगाकर, जो होगा सो देखा जायगा'''।" और एक तीखी व्यथा से मुस्कराता हुआ चौकीदार देर तक आग को देखता रहा, फिर धीरे से

होंठ चबाकर बोला, "इसकी तो बोटी-बोटी गरम लोहे से दागी जाय और फिर टिकटी बांधकर गोली से उड़ा दिया जाय।"

गोविन्द का भी दिल भारी हो आया था। उसने देखा, बुड्ढे चौकीदार की गीली आँखों में सामने की बरोसी की धुँधली आग की परछाईं झलमला रही है।

आधी रात को अपनी कोठरी में लेटे, लक्ष्मी के बारे में सोचते हुए मोमबत्ती की रोशनी में उसकी सारी बातों का एक-एक चित्र उसकी आँखों के आगे साकार हो आया और फिर उसने अन्धकार की प्राचीरो से घिरी, गरम-गरम आँसू बहाती मोमबत्ती की धुँधली रोशनी में रेखांकित पंक्तियाँ पढ़ीं :

"मैं तुम्हें प्राणों से अधिक प्यार करती हूँ।"

"मुझे यहाँ से भगा ले चलो···।"

"मैं फाँसी लगाकर मर जाऊँगी···।"

गोविन्द के मन में अपने-आप एक सवाल उठा—क्या मैं ही पहला आदमी हूँ जो इस पुकार को सुनकर ऐसा व्याकुल हो उठा हूँ, या औरों ने भी इस आवाज़ को सुना है और सुनकर अनसुना कर दिया है····? और क्या सचमुच जवान लड़की की आवाज़ को सुनकर अनसुना किया जा सकता है?